

---

ISSN 0975-850X

# अनुसंधान शोध त्रैमासिक

वर्ष : 5, अप्रैल-जून 2014

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

---

**सम्पादक**

**डॉ. शगुफ़ता नियाज़**

असि. प्रोफेसर हिन्दी,

वीमेन्स कॉलेज,

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

**सलाहकार सम्पादक**

**डॉ. एम. फ़ीरोज़ अहमद**

अनुसंधान पत्रिका अब इंटरनेट पर भी उपलब्ध [www.vangmay.com](http://www.vangmay.com)

**परामर्श मण्डल**

प्रो. रामकली सराफ (बी. एच. यू.)

मूलचन्द सोनकर (वाराणसी),

डॉ. मेराज अहमद (अलीगढ़)

**सम्पादकीय कार्यालय :**

205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन, अलीगढ़-202002

[vangmaya@gmail.com](mailto:vangmaya@gmail.com), [shaguftaniyaaz@gmail.com](mailto:shaguftaniyaaz@gmail.com)

Mob- 09044918670

**सहयोग राशि :**

व्यक्तिगत पाँच वर्ष के लिए : 1000/-, द्विवार्षिक शुल्क संस्थाओं के लिए : 400/-, व्यक्तिगत आजीवन सदस्य : 2000/- (दस वर्ष के लिए), संस्थाओं के लिए आजीवन : 2500/- (दस वर्ष के लिए)

---

**सह-सम्पादक :**

विनीत कुमार (अलीगढ़)  
सलीम मुजावर, फ़ोन-9480781006

**कानूनी सलाहकार :**

एम. एच. खान, एडवोकेट(हाईकोर्ट, इलाहाबाद)  
एम. ए. खान, एडवोकेट(हाईकोर्ट, इलाहाबाद)

**सम्पादन सहयोग :**

यूसुफ अली (अलीगढ़)

**सम्पादन/संचालन :**

अनियतकालीन, अवैतनिक और अव्यावसायिक।  
रचनाकार की रचनाएँ उसके अपने विचार हैं।  
रचनाओं पर कोई आर्थिक मानदेय नहीं दिया जाएगा।  
लेखकों, सदस्यों एवं मित्रों के आर्थिक सहयोग से पत्रिका प्रकाशित होती है।  
उनसे सम्पादक-प्रकाशक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।  
किसी भी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र अलीगढ़ होगा।  
अलीगढ़ से बाहर का चेक स्वीकार नहीं होगा।

**शुल्क भेजने का पता :**

**मनीआर्डर या बैंक ड्राफ्ट :** 'डॉ. शगुफ़्ता नियाज़' या 'अनुसंधान' के नाम  
205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन, अलीगढ़-202002 (उ.प्र.)

डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ की ओर से डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ द्वारा प्रकाशित, डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ द्वारा मुद्रित तथा रुचिका प्रिंटर्स दिल्ली में मुद्रित एवं **बी-4, लिबर्टी होम्स, अब्दुल्लाह कॉलेज रोड, अलीगढ़-202002** से प्रकाशित।

---

## सम्पादकीय

दिनेश कुमार ने 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के स्त्री-विमर्श संबंधी विचार' आलेख लिखा है जिसमें उन्होंने हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों की एक नवीन नज़रिये से देखने की कोशिश की है और द्विवेदी जी को स्त्री-विमर्श का हिमायती बताया है क्योंकि इनके उपन्यासों में ऐसे तथ्य मौजूद हैं जिनमें स्त्री-विमर्श की गूँज सुनाई देती है।

डॉ. बबीता तंवर ने 'हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में सामाजिक मूल्य-अवमूल्यन' आलेख लिखा है जिसमें उन्होंने समाज की अवधारणा स्पष्ट करते हुए आंचलिक उपन्यासों के यथार्थ को पकड़ने की कोशिश की है, क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है। जैसे-जैसे परिवर्तन और मूल्यों का अवमूल्य हो रहा है। उन्होंने इस विघटन को आंचलिक उपन्यासों में देखने का प्रयत्न किया है।

धायगुडे हनुमंत विठ्ठलराव ने 'हिंदी कहानी : सांप्रदायिक समता का दर्शन' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने एक ऐसी समस्या को उठाया है। जो किसी क्षेत्र, राज्य या देश तक सीमित न होकर बल्कि संपूर्ण विश्व में फैली हुई है। जिसे हम सांप्रदायिकता के नाम से जानते हैं। इस नज़रिये से इन्होंने हिंदी को देखने की कोशिश की और उन तथ्यों और स्थलों को ट्रेस किया है जिसमें ये समस्या आयी हुई है।

खुशबू ने 'आत्महत्या के उद्भव और विकास में आर्य समाज सेवकों का योगदान' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने आत्मकथा के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है और आर्य समाज सेवकों के योगदान को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है।

करिश्मा अय्यूब ने 'हिंदी कथा साहित्य में अल्पसंख्यक समाज की स्थिति एवं संभावनाएँ' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने हिंदी कथा साहित्य को एक विमर्शात्मक दृष्टि से देखा है और अल्पसंख्यक समाज की स्थिति पर विचार करते हुए उनकी संभावनाओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है। जो निश्चित ही अल्पसंख्यक विमर्शात्मक दृष्टि कही जा सकती है।

अखिलेश कुमार ने 'आछरी-माछरी' स्त्री संघर्ष का नाम आख्यान' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने हरिसुमन बिष्ट को

उपन्यास आछरी-याछरी का स्त्रीवादी पाठ किया है और पाया है कि इस उपन्यास में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध है और स्त्री संघर्ष की आवाज़।

कविता भदौरिया ने 'प्रगतिशील कवि नागार्जुन और उनकी कविताओं में व्यंग्य' आलेख लिखा है जिसमें नागार्जुन की कविता को परखने की कोशिश की है और उनकी कविताओं में से व्यंग्य के तथ्यों को उजागर करने का प्रयास किया है।

प्रा. श्रीमती उषा पुंडलिक शिरोडे ने 'मध्यकालीन नारी जीवन की पीड़ा की अभिव्यक्ति 'निष्कृति' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने कृष्णा अग्निहोत्री की औपन्यासिक कृति निष्कृति में, मध्यकालीन नारी की पीड़ा को शब्दबद्ध करने की कोशिश की है। जिसमें इन्होंने राजस्थानी संस्कृति और ऐतिहासिक राजस्थानी स्त्री चरित्र (मीराबाई, जोधाबाई) को तत्कालीन समय में देखने की कोशिश की है।

एन. मोहना ने 'आधुनिक युग के शैक्षिक क्षेत्र में भारतीय नारी के आदर्श' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने शिक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करने के पश्चात्, स्त्री शिक्षा की ज़रूरत को महसूस किया है। और उसकी महत्ता को शब्दबद्ध किया है।

प्रा. बालाजी बालीराम ने 'आदिवासी जीवन का यथार्थ: जंगल जहाँ शुरू होता है।' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने संजीव के उपन्यास 'जंगल जहाँ शुरू होता है।' को अपने आलेख के केंद्र में रखा है। आलेख में उन्होंने, उपन्यास की सामाजिक यथार्थ, धार्मिक यथार्थ और राजनीतिक यथार्थ आदि बिंदुओं के आधार पर मूल्यांकन किया है। जिसमें उन्होंने पाया कि 'यह उपन्यास वास्तव में आदिवासी जीवन का यथार्थ है।

डॉ. संजीव सिंह ने 'आधुनिक स्त्री विमर्श: एक विश्लेषण' आलेख में, उत्तर आधुनिक विमर्श, अर्थात् स्त्री विमर्श के संप्रत्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जिसमें उन्होंने महादेवी वर्मा से प्रारंभ करते हुए, स्त्री-विमर्शकारों की रूपरेखा प्रस्तुत की है।

निकालजे भूपेंद्र सर्जेराव ने 'सामाजिक क्रांति के आईने में दलित विमर्श: उपन्यास के संदर्भ में' आलेख लिखा है।

जिसमें उन्होंने दलित विमर्श का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हुए अम्बेकरवादी दर्शन से दलित विमर्श को प्रभावित दिखाया है और इसी संदर्भ में इससे संबंधित साहित्य को सामाजिक क्रांति का दस्तावेज माना है।

कौस्तुबा नंद जोशी ने उत्तराखंड की बुक्सा जनजाति एवं उनकी चुनौतियाँ आलेख लिखा है जिसमें उन्होंने जनजाति शब्द को स्पष्ट करते हुए उत्तराखंड और बुक्सा जनजाति का इतिहास प्रस्तुत करने की कोशिश की है और बुक्सा जनजाति की परंपरा, रीति रिवाज और संस्कृति को स्पष्ट करते हुए उसकी चुनौतियों को शब्दबद्ध करने का प्रयास किया है।

डॉ. प्रिया श्रीवास्तव ने 'मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास साहित्य में नारी-विमर्श' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने स्त्री-विमर्श को स्पष्ट करते हुए और इस कसौटी पर मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास साहित्य को परखने की कोशिश की है। जिसमें उन्होंने पाया कि इनके साहित्य में स्त्री की पीड़ा और मुक्ति की आहट सुनायी देती है। इसकी मुक्ति के लिए ये स्त्री को शिक्षित करने पर बल देती है। क्योंकि स्त्री को शिक्षित करना संपूर्ण वंश को शिक्षित करना है।

रुबी यादव ने 'अभिमन्यु अनंत के उपन्यासों में नारियों का बदलता स्वरूप' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने विश्व संस्कृतियों के इतिहास में नारी को दायम दर्जे के रूप में देखा है और इस दायम दर्जे के कारणों पर भी प्रकाश डाला है। इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने अभिमन्यु अनंत के उपन्यासों की चर्चा की है। जिसमें नारियाँ विकास की ओर अग्रसर हैं।

यूसुफ अली ने हिंदी की सामासिक संस्कृति की परंपरा में पद्मावत और वर्तमान समय आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने हिंदी की प्रकृति पर विचार करते हुए, हिंदी साहित्य की सामासिक संस्कृति की परंपरा में पद्मावत का मूल्यांकन किया है।

सुभाष चंद्र यादव ने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में आचार्य भगीरथ मिश्र का अवदान आलेख लिखा है, जिसमें उन्होंने भगीरथ मिश्र के बहुआयामी व्यक्तित्व पर विचार करते हुए, उनके इतिहास लेखन में स्थान निर्धारित किया है।

डॉ. हर्षकुमार चौहान ने 'नारी अस्मिता की तलाश : कोमल-गंधार' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने डॉ. शंकर शेष के नाटक कोमल गंधार का पाठ किया है और निष्कर्ष रूप में उन्होंने पाया कि यह नाटक नारी अस्मिता की तलाश करता है।

डॉ. सचिन कदम ने 'डॉ. शंकर पुणतांबेकर के बुद्धिजीवी निबंध की भाषा शैली' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने समकालीन निबंधकारों के समक्ष डॉ. शंकर पुणतांबेकर को रखकर उनकी भाषा शैली पर विचार किया है।

डॉ. शंकर ए. राठोड़ ने 'व्यंग्य के यथार्थ शिखर : हरिशंकर परसाई' आलेख लिखा है। जिसमें उन्होंने हरिशंकर परसाई की व्यंग्य दृष्टि को स्पष्ट करते हुए उन्हें भारत ही नहीं बल्कि संपूर्ण संसार के व्यंग्यकारों में शिखर पुरुष के रूप में देखते हैं। इसके अतिरिक्त दुर्गेश यादव और डॉ. सुरेश पटेल का भी आलेख है।

**शगुप्ता नियाज़**

## उपलब्ध

### वाङ्मय पत्रिका, अलीगढ़

वाङ्मय पत्रिका का आदिवासी विशेषांक-1 और 2 प्रकाशित।

मूल्य- 320 रुपए रजि. डाक से

सम्पर्क- 205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन,

अलीगढ़-202002, मोबाइल नं. 09044918670

---

## अनुक्रम

### सम्पादकीय

#### दिनेश कुमार

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के स्त्री-विमर्श संबंधी विचार/6

#### डॉ. बबीता तंवर

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में सामाजिक मूल्य  
अवमूल्यन/12

#### धायगुडे हनुमंत विठ्ठलराव

हिन्दी कहानी : साम्प्रदायिक समता का दर्शन/15

#### खुशबू

आत्मकथा के उद्भव और विकास में आर्य समाज सेवकों का  
योगदान/18

#### करिश्मा अय्युब पठाण

हिन्दी कथा साहित्य में अल्पसंख्यक समाज की स्थिति एवं  
सम्भावनाएं/21

#### अखिलेश कुमार

आछरी-माछरी में स्त्री संघर्ष का आख्यान/25

#### कविता भदौरिया

प्रगतिशील कवि नागार्जुन और उनकी कविताओं में व्यंग्य/27

#### प्रा. श्रीमती उषा पुंडलिक शिरोडे

मध्यकालीन नारी जीवन की पीड़ा की अभिव्यक्ति निष्कृति/31

#### एन. मोहना

आधुनिक युग के शैक्षिक क्षेत्र में भारतीय नारी के आदर्श/34

#### प्रा. बालाजी बलीराम गरड

आदिवासी जीवन का यथार्थ : जंगल जहाँ शुरू होता है/36

#### डॉ. संजीव सिंह

आधुनिक स्त्री विमर्श : एक विश्लेषण/40

#### निकालजे भूपेंद्र सर्जेराव

सामाजिक क्रान्ति के आईने में दलित विमर्श : उपन्यास के  
संदर्भ में /42

#### कौस्तुबा नंद जोशी

उत्तराखण्ड की बुक्सा जनजाति एवं उनकी चुनौतियाँ/45

#### डॉ. प्रिया श्रीवास्तव

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास साहित्य में नारी-विमर्श/49

#### रूबी यादव

अभिमन्यु अनंत के उपन्यासों में नारियों का बदलता स्वरूप/50

#### यूसुफ अली

हिन्दी की सामासिक संस्कृति की परम्परा में पद्मावत् और  
वर्तमान समय/53

#### सुभाष चंद्र यादव

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में आचार्य भगीरथ मिश्र का  
अवदान/56

#### डॉ. हर्षदकुमार चौहान

नारी अस्मिता की तलाश : कोमल गांधार/61

#### डॉ. सचिन कदम

डॉ. शंकर पुणतांबेकर के बुद्धिजीवी निबंध की भाषा शैली/63

#### दुर्गेश यादव

नवजागरण एवं हिन्दी नवजागरण : अवधारणा/67

#### डॉ. सुरेश पटेल

विज्ञापन और हिन्दी/70

---

## आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के स्त्री-विमर्श संबंधी विचार

दिनेश कुमार

हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में स्त्री महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है। शास्त्रों में स्त्री के शरीर को पाप समुच्चय और नरक का द्वार कहकर उसे बराबर अपमानित किया गया है। भारतीय धर्म-साधना की विभिन्न पद्धतियों पर आधारित विभिन्न धार्मिक समुदायों और पंथों में स्त्री की अलग-अलग तरह से व्याख्या की गई है। स्त्री को विष की कोठरी, माया, पथ से भ्रष्ट करने वाली और न जाने क्या-क्या कहा गया है। 'माया महाठगिनी हम जानी' के रूप में गोरखनाथ से लेकर कबीर तक ने स्त्री-सानिध्य को आत्मा की शुद्धता और साधना के लिए बाधक बताया है। स्वयं हजारी प्रसाद द्विवेदी जी इस ज्ञान-विद्या के विद्वान हैं और स्त्री की भूमिका की इस व्याख्या से असहमति रखते हुए देहधर्म की महत्ता को स्थापित करते हैं-“धर्म, कर्म, भक्ति-ज्ञान, शान्ति-सौमनस्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाए बिना मनोहर नहीं होते नारी देह वह स्पर्श मणि है, जो प्रत्येक ईट पत्थर को सोना बना देती है।”<sup>1</sup> द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों में नारी की श्रेष्ठता एवं महत्ता को प्रतिपादित किया है।

द्विवेदीजी स्त्री के शोषण, दमन के सख्त विरोधी रहें हैं। वे स्त्री को राष्ट्र की मुख्यधारा से जोड़ना चाहते हैं। स्त्रियों के प्रति पूरी सहानुभूति के बिना साहित्य का उद्देश्य पूरा नहीं होता। द्विवेदी जी की साहित्य साधना का आधार पुराने मूल्यों का विघटन और नए मूल्यों की स्वीकृति रहा है। मुख्यतः उनके चिन्तन का आयाम स्त्रीवादी रहा है। स्त्री की समाज के रूढ़ बन्धनों से मुक्ति को वे अपने उपन्यासों का मूल विषय बनाते हैं। वे हर प्रकार के शोषण से स्त्री को आजाद कराना चाहते हैं। स्त्री की मुक्ति ही उनके उपन्यासों का लक्ष्य है। स्त्री के पक्ष में आवाज़ उठाना और सम्पूर्ण हृदय से उनका पक्ष लेना आचार्य द्विवेदीजी के उपन्यासों का मूल स्वर है। समाज की उन तमाम रूढ़ियों को जिनमें स्त्री पिस रही है द्विवेदी जी पूर्णतः नष्ट करना चाहते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा उठाए गए प्रश्न स्त्री-विमर्श के आधुनिक प्रश्नों के प्रस्थान बिन्दु हैं जिन्हें अपनी परम्परा के भीतर से ही पुनर्मूल्यांकन के क्रम में अर्जित किया गया है। इन

प्रश्नों में स्त्री अस्मिता की छटपटाहट है तो कदम-कदम पर पुरुष निर्भरता से मुक्त होने का प्रयास भी। स्त्री-पुरुष की समानता के आधार पर सह-धर्म और सह-कर्म का यह सामंजस्य का प्रयास करते हैं। आज हमारे समाज में यह प्रश्न विशेष रूप से उठाया जा रहा है कि एक स्त्री ही स्त्री को समझ सकती है पुरुष नहीं, इसलिए केवल स्त्रियों द्वारा लिखा हुआ साहित्य ही स्त्रीवादी साहित्य है। द्विवेदीजी इस मत से सहमत नहीं हैं “यह विचार कि स्त्री ही स्त्री को समझ सकती है और पुरुष स्त्री को नहीं समझ सकता, किसी बहके दिमाग की कल्पना मात्र है। वस्तुस्थिति कुछ और है। उसका कारण पुरुष और स्त्री के सहयोग के विकास से समझा जा सकता है।”<sup>2</sup> अपने सभी उपन्यासों में द्विवेदी जी निरन्तर इस सूत्र-वाक्य को स्थापित करने का प्रयास करते हैं कि स्त्री और पुरुष दोनों ही इस सांसारिक जीवन के समान रूप से अंग हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। चाहे साधारण गृहस्थ जीवन हो अथवा संसार विरत योग, संन्यास, अध्यात्म की खोज में जीवन को उत्सर्ग करने का उद्देश्य हो। बिना स्त्री शक्ति के अभीष्ट प्राप्ति असम्भव है। इसके बावजूद समाज स्त्री को पग-पग पर अपमानित करता है, पददलित करता है।

द्विवेदीजी के सभी उपन्यासों में स्त्री-जीवन की महत्ता और सार्थकता निरन्तर सिद्ध होती रहती है। स्त्री का मनोहारी स्वरूप जीवन का सत्व है। स्त्री एक साथ अभिभावक, प्रेमी और आराध्य की भूमिका का निर्वाह करती है। इसके साथ ही, वह प्रेरणादायिनी है और विद्रोही के रूप में सामाजिक परिवर्तन के लिए अग्रणी भूमिका भी निभाती है। अपने सभी उपन्यासों में स्त्री को पुरुष का पूरक सिद्ध करते हुए, उसे समाज के भावात्मक और व्यावहारिक स्तर पर संचालिका की भूमिका में प्रस्तुत करना द्विवेदीजी के अग्रगामी और प्रगतिशील चिन्तन को दर्शाता है- “आधुनिक शिक्षा ने स्त्री में भी पुरुष की भाँति महत्त्वाकांक्षा के भाव भर दिए हैं वह भी पुरुष के साथ प्रतिद्वन्द्विता के लिए निकल पड़ी है, परन्तु पुरुष की भाँति उसकी स्वाधीनता में लापरवाही नहीं है। वह वर्तमान परिस्थितियों के साथ समाज का सामंजस्य चाहती है। वह जो कुछ नया

करने जा रही है उसके लिए समाज की स्वीकृति चाहती है। वह उस नई समाज व्यवस्था को गढ़ने के लिए व्याकुल है जो स्त्री की महत्वाकांक्षा का विरोधी न हो।”<sup>3</sup> स्त्री-पुरुष संबंधों की सार्थकता परस्पर सहयोग, विश्वास, सम्मान और एक दूसरे के विकास में सहायक होने में निहित है। यह द्विवेदीजी का निश्चित मत था।

वे ऐतिहासिक परिस्थितियों के बीच से स्त्री-विमर्श के ज़रूरी सवाल को उठाते हैं और स्त्री मुक्ति के प्रश्न को सामंती समाज की अवधारणा से तथा धर्म के संस्थागत स्वरूप से जोड़ते हैं। समाज में स्त्री-पुरुष के बीच व्याप्त असमानता आज भी स्त्री-विमर्श के सामने एक मुख्य प्रश्न है। भूमि के स्वामित्व के समान ही स्त्री पर स्वामित्व सामन्ती समाज की सोच का केन्द्र बिन्दु रहा है। सामन्ती समाज की इसी सोच के कारण, समाज में दासों और शूद्रों के समान ही स्त्री की दशा बहुत दयनीय रही है। मानव सभ्यता के इतिहास में जितना शोषण और अपमान स्त्री का किया गया है, उतना किसी का नहीं किया गया। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यासों में ऐतिहासिक संदर्भों द्वारा समाज में स्त्री की दशा और उसके संघर्ष को व्यापक धरातल पर चित्रित किया है। वे स्त्री-शोषण की सामाजिक प्रक्रिया और संघर्ष के तथ्यों को स्पष्ट करते हुए, स्त्री-अस्मिता के वास्तविक अर्थ तक पहुँचकर, एक ठोस बदलाव की दिशा को इंगित करते हैं- “समाज को स्त्री ने जन्म दिया था। दलबद्ध भाव से रहने के प्रतिनिष्ठा होने के कारण वह उसी (समाज) की अनुचरी हो गई। पुरुष यहाँ भी आगे निकल गया। वह समाज से भागना चाहता था। स्त्री ने अपना हक त्यागकर उसे समाज में रखा, उसके हाथ में समाज की नकेल दे दी। पुरुष समाज का विधायक हो गया। इतिहास उलट गया। जमाने के साथ गलतियों की मात्रा बढ़ती गई, पुरुष अकड़ता गया। स्त्री दबती गई। आज वह देखती है कि उसी के बुने हुए जाल ने उसे बुरी तरह जकड़ डाला है। वह उसे प्यार भी करती है, वह उससे मुक्त भी होना चाहती है। यही द्वन्द्व है। यही तपस्या है, यही विरोधाभास है। वह फिर एक बार अपने हाथों खोलकर फिर से बुनेगी।”<sup>4</sup>

स्त्री-विमर्श की दृष्टि से द्विवेदी जी के उपन्यास विशिष्ट उपन्यास हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री-विमर्श के महत्वपूर्ण प्रश्नों को पूरी गंभीरता के साथ उठाया है। वे स्त्री की छवि को नुमाइश और भोग की वस्तु के रूप में प्रस्तुत न करके उसके गरिमामय और शक्तिशाली रूप की प्रतिष्ठा करते हैं। इस प्रकार वे स्त्री अस्मिता को विशेष महत्त्व देते हैं। स्त्री के प्रति उनकी यही दृष्टि पुरुषों की आधिपत्य वाली दुनिया में स्त्री अस्तित्व को नया रूप प्रदान करती है।

द्विवेदीजी अपने स्त्री-पात्रों के असीमित दुखों के प्रति हार्दिक सहानुभूति रखते हैं। परिवार और समाज में पूजा की पात्र बनने वाली स्त्री, पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना के कारण अबाध पीड़ा झेलने को अभिशप्त है। द्विवेदीजी अपने स्त्री पात्रों का सौंदर्य वर्णन करते समय देह पर आकृष्ट होकर भी देह पर रुकते नहीं हैं। पूरी उत्कटता से अपनी ओर खींचने वाली देह, अन्ततः उनके यहाँ पार्वती की तपस्या में ढलकर सामाजिक विधान में सहायक होती है- “सुन्दरी स्त्री-पात्रों के लिए उनके उपन्यासों में पार्वती की उपमा प्रायः आती है। जीवन में भी ऐसा था। अपनी बड़ी लड़की पुतुल (इन्दुमती) के बारे में कहते-कहते क्या कालिदास की पंक्ति पढ़ते, जिसमें कहा गया है कि हिमाचल का कुल पार्वती से पवित्र हुआ है।”<sup>5</sup>

उनके पाठक जानते हैं कि वे स्त्री सौंदर्य से परम-प्रभावित लेखक-चिंतक हैं। व्यक्ति रूप में भी सौंदर्य से प्रभावित होने की उसमें अतीव क्षमता थी। वे रम्भा, उर्वशी के माथे पर हाथ रखकर आशीर्वाद दे सकते थे- “महिलाएँ उन पर बहुत विश्वास करती थीं। वे उनसे अपनी बहुत बातें, समस्याएँ बताती। वे धैर्य पूर्वक सुनते और परामर्श देते।”<sup>6</sup> सुन्दर महिलाओं से आँखें चुराकर, पवित्रता की रक्षा के लिए दूसरी तरफ देखते हुए भी उन्हें कभी नहीं पाया। वे गुरु, बाबा, पिता, भाई के समान उनसे व्यवहार करते- “द्विवेदीजी भाषा आयोग के सिलसिले में कश्मीर गए। वहाँ से आए तो बहुत उल्लसित थे। वहाँ की प्रकृति के सौंदर्य से, वहाँ की किशोरियों के सौंदर्य से भी। कहते ऐसी सुन्दर लड़कियाँ, किशोरियाँ, कन्याएँ साक्षात् पार्वती। कश्मीर की किशोरियाँ अधिकांशतः मुस्लिम लड़कियाँ पं. जी को साक्षात् पार्वती लगतीं। सब लोगों को पार्वती नहीं लगतीं। यह उनकी मानसिक प्रवृत्ति थी।”<sup>7</sup> नारी सौंदर्य के प्रति लेखक सदैव सजग है और उसने हर नारी पात्र का विस्तार से सौंदर्य वर्णन किया है जो सम्भवतः संस्कृत साहित्य की परम्परा का प्रभाव है। रचनात्मक धरातल पर वे अपने चारों उपन्यासों में स्त्री तबके को केन्द्र में रखते हैं। ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों के आधार पर उन्होंने आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक विडम्बना तथा विरूपता पर गहरा चिन्तन किया और भारतीय पुराण, इतिहास के बिखरे पन्नों से अविस्मरणीय चरित्रों का निर्माण किया। इन उपन्यासों में जहाँ कहीं स्त्री-पात्र आए हैं, वहाँ द्विवेदीजी की इनके प्रति सहृदयता देखने लायक है। उनके शौर्य, पराक्रम, साहस, चातुर्य की प्रशंसा तो की है, उनमें विद्यमान पुनीत सौंदर्य को भी देखा और उसका खुलकर वर्णन किया- “बाणभट्ट की आत्मकथा, ‘चारु चन्द्रलेख’, ‘पुनर्नवा’ और ‘अनामदास का पोथा’ जैसी सर्जनात्मक कृतियों के उन प्रसंगों में जहाँ नारी-सौंदर्य अपने पूरे



वैभव के साथ प्रकट होता है तथा नृत्य-कला के प्रदर्शन के अवसर अक्सर उपस्थित होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदीजी के इस सौंदर्य बोध में सर्वथा शास्त्रीय प्रत्यभिज्ञान ही नहीं है, बल्कि उसमें एक सजग ऐन्द्रिय संवेदन की प्रत्यग्रता भी है। रूप, शोभा, सुषमा, सौभाग्य, चारुता, लालित्य, लावण्य आदि का ऐसा सूक्ष्म परिज्ञान और संवेदन हिन्दी में दुर्लभ ही है।<sup>18</sup> नारी-देह को द्विवेदीजी देव मन्दिर मानते हैं। उनके उपन्यास 'चारु चन्द्रलेख' में प्रस्तावित है कि संसार का कल्याण करने की जैसी शक्ति नारी-सौंदर्य और नारीत्व में है वैसी और कहीं नहीं-“द्विवेदी जी के सौंदर्य वर्णन में वासना की उत्तेजना नहीं है। न इसमें अश्लील नग्नता है। नारी का मधुर और भव्य सौंदर्य है।”<sup>19</sup> स्त्री सौंदर्य के प्रति लेखक सदैव सजग है और उसने हर नारी पात्र का विस्तार से सौंदर्य वर्णन किया है।

सच तो यह है कि द्विवेदीजी के स्त्री-पात्र ऐसे अनेक सवाल उठाते हैं जो आज के स्त्री-विमर्श में उठाए जाने वाले सवालों, स्त्री-अधिकारों और अस्मिता सम्बन्धी सवालों के मेल में दिखायी पड़ते हैं। अतः द्विवेदीजी के उपन्यासों को समकालीन कथा साहित्य के स्त्री-विमर्श का प्रस्थान बिन्दु माना जा सकता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के सभी स्त्री-पात्र व्यक्तिगत कल्याण की जगह सामूहिक कल्याण करने में अपने जीवन को सार्थक समझते हैं- “द्विवेदीजी के स्त्री-चरित्रों-भट्टिनी, निउनियाँ, मृणाल, चन्द्रलेखा, मैना, जाबाला सब में लोकहित में संघर्ष करने की प्रवृत्ति है। सौंदर्य लोकहित में संघर्षरत हो द्विवेदीजी का सिद्धि मंत्र है।”<sup>10</sup> पौराणिक स्त्री-दृष्टि का पुनर्पाठ करने वाले तुलसी का प्रश्न ‘कत विधि सृजी नारि जगमाहीं’ को द्विवेदीजी ने ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ में सुचिन्तित ढंग से निपुणिका के माध्यम से उठाया है- “क्या स्त्री होना ही मेरे अनर्थों की जड़ नहीं है ?”<sup>11</sup> आज भी समाज में स्त्री होकर जीना कितना कठिन है और विधवा का जीवन तो और भी चुनौतीपूर्ण है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ के स्त्री पात्रों द्वारा जो सवाल उठाए हैं, ऐसा लगता है कि उनका उत्तर ढूँढ़ने के लिए ही उन्होंने ‘पुनर्नवा’ की रचना की है जिसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और आधुनिक स्त्री चरित्र चन्द्रा है।

स्त्री संबंधी पौराणिक दृष्टि की संकीर्णता और शास्त्रकारों की भोगवादी प्रवृत्ति का विरोध ही हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्त्री दृष्टि की आधुनिकता है। स्त्री के अपमान को सम्मान में रूपांतरित करने की यह प्रक्रिया, परंपरा के पुनर्मूल्यांकन से अर्जित सर्वथा नयी स्त्री-दृष्टि है जो वर्तमान स्त्री-विमर्श के देहवादी विवाद से कहीं न कहीं अपना संवाद स्थापित करती है।

द्विवेदीजी के उपन्यासों में चित्रित नारी पात्रों का दलित और दमित होना महत्त्वपूर्ण है। वह इतना प्रभावी न होता, अगर उपन्यासों के प्रायः सभी नारी पात्र-उनमें भी उपनायिकाएँ, लाछिताएँ अपने बंधनों को तोड़ने के लिए इतना प्रयत्नशील न होतीं- “निउनिया, सुचरिता, चन्द्रा, मैना, महामाया आदि मध्ययुग की मध्यकालीनता के दमघोंटू वातावरण में स्त्री-समाज की मुक्ति का द्वार खोलने का उपक्रम करती हैं, ऐतिहासिक शक्ति और सीमा के फ्रेम में। उनके चरित्र में नारीत्व और सत्ता से टक्कर होती है। अपने लिए वे उद्धार का मार्ग ढूँढ़ लेती हैं। उनका सामाजिक लांछन, देवता के चरणों में समर्पित होकर अलौकिकता और सार्थकता में पर्यवसित हो जाता है।”<sup>12</sup> उनका विचार कि जिन स्त्रियों को कुलटा कहा जाता है, मुझे उनमें दैवीत्व दिखलाई पड़ता है। उनके उपन्यासों में घटित होता है “द्विवेदीजी के उपन्यासों में अधिकांशतः नारी का सयंमी, सहनशील एवं समर्पणशील रूप मिलता है किन्तु मैना, चन्द्रा, चन्द्रलेखा और निपुणिका जैसे चरित्र भी उनके यहाँ हैं। जो नारी विद्रोह के अनेक आयाम प्रस्तुत करते हैं।”<sup>13</sup> द्विवेदीजी ने अपने पूरे श्रम और कल्पना द्वारा, संपूर्ण मनोयोग से अपने वैचारिक आदर्शों के अनुरूप नारी चरित्रों को गढ़ा है।

‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ ऐतिहासिक उपन्यास है द्विवेदीजी इस ऐतिहासिक फ्रेम में ही स्त्री नियति को परिभाषित करते हुए टिप्पणी करते हैं-“बड़े करुणाजनक संयोगों के बीच से मैंने यह अनुभव किया है कि स्त्री के दुःख इतने गंभीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमांश भी नहीं बता सकते।”<sup>14</sup> स्त्री-देह की पवित्रता और देवमंदिर समभाव पूरे उपन्यास का केन्द्रीय भाव है। द्विवेदीजी कभी इसे बाणभट्ट के माध्यम से तो कभी किसी अन्य पात्र के माध्यम से प्रकट करते हैं। द्विवेदीजी का यह भाव चाहे अकुलीन निपुणिका के संदर्भ में हो अथवा मगध के परम प्रतापी महाराज तुवरमिलिंद की कन्या चन्द्रदीधिति के संदर्भ में संपूर्ण उपन्यास में व्याप्त है। उपन्यास के नारी चरित्रों का स्वाभिमान संघर्ष और आत्मविश्वास एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

द्विवेदीजी के उपन्यासों में स्त्री की श्रेष्ठता और महत्ता को प्रतिपादित किया गया है। यही नहीं मानव देह की ऐहिकता में श्रेष्ठता भी सुचरिता के कथन में व्यक्त होती है “मानव देह केवल दण्ड भोगने के लिए नहीं बनी है आर्य! यह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मन्दिर है। यह प्रमाद है आर्य, कि यह शरीर नरक का साधन है। यही बैकुण्ठ है, इसी को आश्रय करके नारायण अपनी आनंद लीला कर रहे हैं।”<sup>15</sup> पान की दुकान पर बैठने के बाद अपने अनुभव के आधार पर निउनियाँ यह टिप्पणी करती है कि जाने दो भट्ट! दुर्गुणों का



तो फिर भी कुछ मोल है जिससे ग्राहक खिंचे चले आते हैं। पर मेरे सद्गुणों का क्या मोल? और मोल समझने वाला लेखक स्वयं भी यह टिप्पणी करने से नहीं चूकता है कि निउनियाँ पान कम मुस्कान ज्यादा बेचती है। अतः दोष दृष्टि में है, दर्पण में नहीं। देखने वाला यदि दृष्टिदोष का शिकार है तो दर्पण में उसे छवि दोषपूर्ण ही दिखायी देगी। यही कारण है कि जब सम्राट समुद्र गुप्त ने चन्द्रा को दृष्टि दोष से मुक्त निर्दोष-दृष्टि से देखा तो निर्लज्ज चन्द्रा के स्थान पर तेजस्विनी चन्द्रा की बिल्कुल भिन्न छवि दिखायी पड़ी। इस दृष्टिदोष का कारण हमारा समाज है जो स्त्री के सद्गुणों को दुर्गुणों के रूप में प्रचारित कर देता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाणभट्ट ने बड़े विस्तार से निउनियाँ के सद्गुणों की चर्चा करते हुए समाज में व्याप्त उस दोष को रेखांकित किया है। जो हँसमुख, लीलावती, आकर्षक, मोहिनी स्त्री के सद्गुण को उसका दोष मान लेता है।

द्विवेदीजी के उपन्यासों में प्रश्न गूँजता रहता है कि क्या स्त्री के बिना किसी पुरुष की साधना पूर्ण हो सकती है? क्या दोनों के निकटतम संबंध, उद्देश्यों के एकाकार स्वरूप के बिना दोनों के जीवन को पूर्णता प्राप्त हो सकती है? बाबा अघोर भैरव, विरतिवज्र को यही मंत्र देते हैं कि कौल मार्ग में साधना करने के लिए शक्ति की आवश्यकता है। बिना शक्ति के साधना नहीं, इसीलिए स्त्री-पुरुष का भेद किसी भी साधक को भूलना पड़ता है। स्त्री-पुरुष दोनों एक दूसरे के पूरक हैं द्विवेदी जी अपने समय के समाज के सामने इन प्रश्नों को प्रस्तुत करते हैं और आलंबन हेतु अपने समस्त पाण्डित्य और पुराने संस्कृत साहित्य के बीच से प्रसंग उठाते हैं।

सुचरिता का जीवन-रहस्य भी स्त्री-पुरुष संबंधों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। लंबे समय तक पति का वियोग सह चुकी सुचरिता, अपने संचित ज्ञान को सूत्र रूप में स्पष्ट करती है और गृहस्थ जीवन की गरिमा को स्थापित करते हुए कहती है कि "मानव देह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मंदिर है"<sup>16</sup> सुचरिता और विरतिवज्र के रूप में द्विवेदीजी गृहस्थ जीवन की महत्ता सिद्ध करते हुए उसे अन्य सभी पंथों से सर्वोत्तम बताने का प्रयास करते हैं।

द्विवेदीजी छोटे राजकुल के अन्तःपुर के माध्यम से अपने समय के चकलाघरों की ओर जनता का ध्यान खींचना चाहते हैं। जिनमें आज भी न जाने कितनी मट्टनियाँ अपनी इच्छा के विरुद्ध रखी जाती हैं और उनका हर स्तर पर शोषण किया जाता है।

निपुणिका विभिन्न प्रसंगों में बार-बार यह प्रश्न करती है कि क्या स्त्री होना ही स्त्री के सारे अनर्थों की जड़ है। क्या स्त्री की नियति में पुरुष समाज से अपने देय के लिए निरंतर वंचित

होना और भटकना ही लिखा है। निपुणिका हो या भट्टिनी, सुचरिता हो या महामाया सबके सम्मुख यही यक्ष प्रश्न है, जिसकी खोज में समस्त नारी जाति आज भी भटक रही है और आत्मसंघर्ष के साथ सामाजिक व्यवस्था और मानसिकता से भी संघर्ष कर रही है। आस्ट्रिया की मिस कैथराइन दीदी कहती हैं "समझता है योरोप की स्त्रियाँ सब कुछ कर सकती हैं। ..... हम भी पराधीन हैं। समाज की पराधीनता ज़रूर कम है, किन्तु प्रकृति की पराधीनता तो हटाई नहीं जा सकती।"<sup>17</sup> सम्पूर्ण औपन्यासिक कृति अपने नारी पात्रों के उद्वेलन और संघर्ष के माध्यम से, इसी पराधीनता के सवाल से टकराती हुई रास्ता खोजने का प्रयास करती है।

द्विवेदीजी के स्त्री-पात्र नवमानवतावादी मूल्यों की स्थापना करते हैं। कुलभ्रष्ट समझे जाने वाले पात्र भी कितने महान् हो सकते हैं, यह निपुणिका को देखकर जाना जा सकता है। निपुणिका प्रेम को जिस ऊँचाई पर प्रतिष्ठित करती है वह नमस्य है- "प्रेम को इतने संयम एवं औदात्य के साथ शायद ही हिन्दी की किसी अन्य कृति में प्रस्तुत किया गया हो।"<sup>18</sup> 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की उपसंहार की उक्ति है "इस कथा में प्रेम की अभिव्यक्ति में सर्वत्र प्रेम की व्यंजना गूढ़ और अदृष्ट भाव से प्रकट हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि एक स्त्री जनोचित लज्जा सर्वत्र उस अभिव्यक्ति में बाधा दे रही है। सारी कथा में स्त्री-महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है।"<sup>19</sup> 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास का मूल विषय प्रेम है। इसलिए नारियों के रूप सौन्दर्य के साथ उनके प्रेम की व्यंजना की गई है। इस प्रेम में ऐन्द्रियजन्य वासना के स्थान पर मानसिक गूढ़ता और गहराई है- "द्विवेदीजी प्रेम को पाप समझने वाली दृष्टि का तिरस्कार करते हैं। अपने प्रिय पात्र के लिए दलित द्राक्ष की तरह संपूर्ण समर्पण ही इस प्रेम की मूल शर्त है।"<sup>20</sup> द्विवेदीजी के चारों उपन्यासों का कथानक प्रेम पर आधारित है।

द्विवेदीजी राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक दृष्टिकोण को परिवर्तित करना चाहते हैं। वे इसमें स्त्री की भी भूमिका देखना चाहते हैं। चन्द्रलेखा के कारण तत्कालीन राजनीति में सक्रियता बढ़ जाती है। एक नारी की राजनीतिक दृढ़ता नारी की सुन्दरता के साथ उसकी शक्तिमत्ता को प्रमाणित करती है "इस देश में मिथ्या खण्ड अभिमानों को चूर्ण करने के लिए चन्द्रलेखा वज्र के हथौड़े का काम करेगी और हतदर्प, हीनवीर्य पराजित प्रजा के चित्त में इतिहास की मंगलमय प्रेरणा देने के लिए अमृत की तरह झरेगी।"<sup>21</sup> निश्चय ही चन्द्रलेखा भारतीय जीवन के निर्माण के लिए रची गयी है। तभी तो वह कहती है "वीरो राजाओं का युद्ध समाप्त हो गया। अब कहीं आशा है

तो प्रजा की संगठित शक्ति में यह सम्पूर्ण भारतीय मानस की एकता का निर्माण है, स्वदेश का मोसल्लम निर्माण है। इसमें लोक जागरण पैदा करने की ऊर्जा है।<sup>22</sup> विद्याधर भट्ट कहते हैं तुमने जिन किसानों को और साधारण प्रजा वर्ग के लोगों को मेरी सहायता के लिए भेजा था, उनके करतब देखकर मैं चकित हूँ। चम्बल के इन क्रान्तिकारी दूहों के सरल मार्ग उन्होंने ही आविष्कृत किए। बेटा तुमको पता भी नहीं कि साधारण घरों के छोकरोँ और छोकरीयों ने कैसी अद्भुत सहायता की है। भैंस चराने वाले बालकों ने अज्ञात कुलशील पत्थर तोड़ने वाले श्रमिकों ने, हल चलाने वाले खेतिहरों ने, भीख माँगने वाले निठल्लों ने, परान्न पुष्ट संड-मुण्ड साधुओं में, नाचगान से जीवनयापन करने वाली नर्तकियों ने, रस्से पर खेल दिखाने वाले नटों और नटनियों ने अद्भुत देशभक्ति का परिचय दिया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी स्त्री-पुरुष समानाधिकारों के पक्षधर थे। वे गृहस्थ जीवन के महत्त्व और स्त्री-शक्ति के सहयोग को जरूरी बताते हुए स्त्री अस्मिता के सम्मान और अधिकारों के प्रति सजग हैं। उनके इस दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है- “ताम्बूल नारी-धर्म को ठीक-ठीक व्यक्त करता है। देख बेटा, जिस प्रकार पान और सुपारी, चूना और कत्था मिलकर एकमेक हो जाते हैं, उसी प्रकार जब पुरुष और नारी और उनकी तेजोगरिमा एकमेक हो जाते हैं, तभी अलौकिक आनन्द के हेतु बनते हैं। कैसे बनते हैं? एक दूसरे को परिपूर्ण भाव से आत्मसमर्पण करके”<sup>23</sup> अतः वे स्त्री समस्या के ज्वलन्त प्रश्नों से टकराते हुए, स्त्री समानता और स्वतंत्र अस्मिता के वैचारिक आधार को नए आयाम प्रदान करते हैं।

द्विवेदीजी जानते हैं कि शहर में गणिकाएँ हैं, मन्दिरों में देवदासियाँ हैं, राह चलती बालाओं को अपहृत करते दस्यु हैं। जहाँ-तहाँ शार्वलिक के अड्डे हैं, जिनमें दिन-दहाड़े कन्याओं की खरीद-फरोख्त होती है और घरों में एक अलग तरह का उत्पीड़न झेलती विधवाएँ हैं। द्विवेदीजी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने भारतीय शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था। शास्त्रों में जो रूढ़ और संकीर्ण बातें कही गयी हैं वे उनका समर्थन नहीं करते हैं। वे जब-तब रूढ़ शास्त्रीय मान्यताओं पर ठठाकर हँस पड़ते हैं “तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है, उसे भुलाने को कहते हैं।”<sup>24</sup> पुनर्नवा के सुमेर काका के रूप में उनकी अनास्था पूरी तरह प्रकट हुई है। चन्द्रा के विवाह को सामाजिक बलात्कार की संज्ञा देकर जिस निर्भीकता से वे समुद्र गुप्त से टकराते हैं, वह एक साथ कई मोर्चों को खोलना है। धर्म-व्यवस्था के वर्तमान स्वरूप को चुनौती देकर उसकी जड़ता

को उद्घाटित करते हैं, स्त्री का महिमामण्डन करती पितृसत्तात्मक व्यवस्था के स्त्री-विरोधी चरित्र को भी उद्घाटित करते हैं- “द्विवेदीजी की आलोचनात्मक कृतियों से प्राप्त अन्य प्रमाणों के प्रकाश में बिना हिचक के यह कहा जा सकता है कि सुमेर काका का कथन ही स्वयं उनका वक्तव्य है।”<sup>25</sup>

मनु के धर्मशास्त्र और पुराण ऋषियों के विचारों को खंगालने के साथ ही लोकमत तथा विभिन्न क्षेत्रों की नज़ीरो और गवाहियों का विश्लेषण करने के बाद चन्द्रा के व्यवहार के प्रधान न्याय अधिकारी एक निर्णयात्मक स्थिति में पहुँचते दिखायी देते हैं। राज प्रतिनिधि अमात्य पुरन्दर को सम्बोधित करते हुए आचार्य पुरगोभिल कहते हैं “अगर सचमुच किसी की पुत्री सामाजिक विधि-निषेधों का उल्लंघन कर प्रेम निभाना चाहे तो लोग पसन्द नहीं करेंगे। परन्तु लोग चाहें या न चाहें, सुकुमार मति की कर्मठ बालिकाओं के वैचारिक सम्मान को कार्य रूप में परिणत करने की इच्छा कभी-न-कभी प्रबल रूप धारण कर सकती है। विचारों और कल्पना की दुनिया में जो बात मान्य होती है उसे व्यवहार की दुनिया में स्थान पाने में देर लगती है। पर वह पाती अवश्य है।”<sup>26</sup> द्विवेदीजी के स्त्री-विमर्श संबंधी विचार आज भी प्रासंगिक हैं। क्योंकि आज भी समाज अन्तर्जातीय प्रेम को स्वीकार नहीं करता है तथा आज भी हमारे समाज में अन्तर्जातीय विवाह करने पर ऑनर किलिंग की घटनाएँ सामने आ रही हैं। आखिर समाज का यह अत्याचार कब तक चलता रहेगा। कब समाज अपनी संकीर्ण मान्यताओं से ऊपर उठकर इस प्रकार के अन्तर्जातीय विवाहों को स्वीकारेगा। यह तो सच है कि एक दिन समाज इस प्रकार के अन्तर्जातीय विवाहों को स्वीकारेगा अवश्य क्योंकि विचारों और कल्पना की दुनिया में जो बात मान्य होती है उसे व्यवहार की दुनिया में स्थान पाने में देर लगती है, पर वह पाती अवश्य है।

‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ में बाबा अघोर भैरव का गुरुमंत्र “किसी से न डरना-गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं”<sup>27</sup> चन्द्रा के सिर चढ़कर बोल रहा है, एक बार नहीं अनेक बार। गोपाल आर्यक और चन्द्रा के उच्छल प्रेम का तरल आवेग इतना जीवन्त और एकनिष्ठ है कि सम्राट समुद्र गुप्त, जिनके एकान्तिक निर्णय से वह अभिशप्त हो उठा था, अन्ततः यह स्वीकार करते हैं कि चन्द्रा को समझने में उससे कहीं चूक हुई है। सम्भवतः उसकी सच्चाई, सरलता और तेजस्विता को निर्लज्जता मान लेने की भूल हुई है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी लोकमत के परिप्रेक्ष्य में शास्त्र मत को जाँचते-परखते हैं, परम्परा के भीतर से ही स्त्री सम्बन्धी अपनी आधुनिक दृष्टि का निर्माण करते हैं जिसमें स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व, उसके अस्तित्व और विषम परिस्थितियों में

आत्म निर्णय के अधिकार को अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं। इन प्रतिमानों की कसौटी पर द्विवेदीजी के तमाम स्त्री-पात्रों में चन्द्रा सबसे खरी उतरती है। आर्यक और चन्द्रा के सम्बन्ध में आज के समाज में इस बढ़ती हुई स्वच्छन्द मनोवृत्ति के प्रति परम्परावादियों की तरह नकारवादी रवैया न अपनाकर द्विवेदीजी ने अपनी आधुनिकता और खुलेपन का परिचय दिया है। जब कि आज भी दो प्रेम करने वालों को आग में जला देने या उनको अन्य किसी प्रकार से मार देने की घटनाएं सुनाई ही पड़ती रहती हैं। प्रेम का आवेग सामाजिक वर्जनाओं से कहीं ज्यादा प्रबल होता है। इसलिए सामाजिक वर्जनाओं की कठोरता के कारण ही उन्हें घर से भागना पड़ता है। घर से भागे विवाहित जोड़े को पुनर्नवा में शरण देकर हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने इस समस्या का एक सामाजिक समाधान भी प्रस्तुत किया है। जो उनकी स्त्री दृष्टि को और भी आधुनिक बनाता है- “द्विवेदीजी का सामान्य मनुष्य उन्हें जड़ मर्यादाओं को तोड़ने वाले विद्रोह की ओर ले जाता है।”<sup>28</sup>

चंद्रा अपने नपुंसक पति से अलग होकर लोकापवाद को ठेंगा दिखाती हुई अपने त्याग, सेवा और कर्म से आर्यक का वरण करती है और आर्यक की पत्नी मृणाल मंजरी के साथ सोल्लास रहती है। शार्वलिक अपनी प्रेमिका माँदी या मदनिका का नर्तकी के घर से उद्धार कर परिणय सूत्र में बंध जाता है। देवरात भी आद्यबिम्बों की स्मृतियों में पुनर्ववता प्राप्त करते हैं। वर्तमान भारत की त्रासद धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक जटिलताओं के परिप्रेक्ष्य में पीड़ित स्त्री के लिए द्विवेदीजी के उपन्यासों में अभिव्यक्त स्त्री-बोध प्रासंगिक हैं।

द्विवेदीजी के साहित्य में स्त्री-विमर्श का जो स्वरूप प्रस्फुटित होता है वह एक ऐसी चेतना है जो परम्परागत संदर्भों को नया अर्थ देती है और द्विवेदीजी के उपन्यासों का इस संदर्भ में पुनर्पाठ करने की ओर संकेत करती है। यदि हम व्यापक दृष्टिकोण से देखें तो द्विवेदीजी स्त्री-विमर्श के बहुत बड़े हिमायती सिद्ध होते हैं।

#### संदर्भ-

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 142
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कल्पलता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1983, पृ. 78

3. वही, पृ. 89
4. वही, पृ. 89
5. विश्वनाथ त्रिपाठी, व्योमकेश दरवेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2012, पृ. 235
6. वही पृ. 234
7. वही, पृ. 256
8. नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृ. 112
9. परमलाल गुप्त, हिंदी के प्रतिनिधि उपन्यास, पीयूष प्रकाशन, सतना, संस्करण-2000, पृ. 58
10. व्योमकेश दरवेश, पृ. 410
11. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 194
12. व्योमकेश दरवेश, पृ. 455
13. वही, पृ. 364
14. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 194
15. वही, पृ. 146
16. वही पृ. 146
17. वही पृ. 9
18. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी सहित्य का सरल इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2010, पृ. 119
19. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 233
20. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2011, पृ. 172
21. हजारी प्रसाद द्विवेदी, चारु चन्द्रलेख, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2010 पृ. 188
22. वही पृ.188
23. वही पृ. 327
24. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 82
25. दूसरी परंपरा की खोज, पृ. 120
26. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पुनर्नवा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2007, पृ. 187
27. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 66
28. दूसरी परंपरा की खोज, पृ. 124

**शोध छात्र-हिन्दी विभाग, ए. एम. यू. अलीगढ़**

---

## हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में सामाजिक मूल्य-अवमूल्यन

डॉ. बबीता तंवर

‘समाज’ शब्द का प्रयोग मुख्यतः मानव-समूह के रूप में किया जाता है। समाज मनुष्य की वह इकाई है जिससे उसके हित-चिन्तन, सुख-दुःख तथा जीवन के व्यवहार समाहित हैं। समाज एक विशाल सागर के समान है, जिसमें विभिन्न जातियों एवं धर्मों रूपी जल धाराएँ समा जाती हैं फिर भी वे अपने अस्तित्व को किसी न किसी रूप में उस बृहत् जल राशि में बनाए रखती है। समाज का प्रत्येक प्राणी जब राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा व्यक्तिगत संबंधों को एक-दूसरे से बनाए रखता है तब ऐसी ही सजातीय भावना वाले व्यक्तियों का एकीकरण समाज के नाम से जाना जाता है। समाज में रहते हुए मनुष्य अपनी भावनाओं का आदान-प्रदान करते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास करता है, जिससे उसका जीवन गतिशील धारा प्रवाह से सम्पन्न हो जाता है।

समाजशास्त्रियों का कथन है कि समाज एक संगठन है जिसमें साधक, साधन और साध्य संयुक्त रूप से पाए जाते हैं जिसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन संसार का अपरिवर्तनीय नियम है जो मुख्यतः अतीत से जुड़ा रहता है। इस प्रकार “समाज का अस्तित्व हमेशा किसी सामाजिक संरचना के रूप में ही पाया जाता है। एक ऐसे संगठन के रूप में जो निरन्तर विकसित होता रहता है तथा जिसके प्रमुख क्रिया-कलाप किसी देवी शक्ति पर नहीं बल्कि उत्पादन-प्रणाली के विकास पर आधारित होते हैं।”<sup>1</sup> समाज के लिए सुनिश्चित व्यवस्था और विधि का होना अनिवार्य है। यदि किसी समाज में ऐसा संभव नहीं है तो यह स्थिति वास्तव में इसके लिए घातक है- “मनुष्यों में जो चलन, कार्य-विधियाँ, पारस्परिक सहायता की जो प्रवृत्ति, शासन की भावना आदि अनेक समूह विभाग विद्यमान हैं। मानव-व्यवहार के संबंध में जो स्वतन्त्रताएँ एवं मर्यादाएँ हैं उनकी व्यवस्था ही समाज है।”<sup>2</sup> समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक संबंधों का सजीवन योग है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में एक-दूसरे से आबद्ध हैं, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो फिर भी सभी अन्योन्याश्रित हैं। प्रत्येक की सामूहिक अस्मिता ही समाज की सूचक है।

इस प्रकार केवल मानव-समूह के नाम को समाज नहीं कहा जा सकता अपितु इस समूह का किन्हीं अन्तः सूत्रों द्वारा जुड़ा होना भी नितान्त ज़रूरी है। किसी भी समाज की महत्ता उसके रीति-रिवाजों, प्रथा-परम्परा और प्रणालियों, सत्ता और सहयोग के रूपों, विभाजन के तत्त्वों और व्यवहार आदि के विधि-निषेधों में निहित होती है। समाज लगातार परिवर्तन की ओर अग्रसर रहता है और उसके विभिन्न घटकों को जोड़ने वाले संबंध भी जटिल होते हैं। इसके साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि प्रत्येक समाज में व्यक्ति के आचरण, कर्म और उनके विचारों की उच्चता के कुछ निष्कर्ष होते हैं जो समाज को नियंत्रित करने में सहायक होते हैं तथा विशेष प्रकार के आचरण के लिए प्रेरित भी करते हैं, इन्हें ही हम सामाजिक मूल्य कहते हैं।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों ने कहा है कि उपन्यासों में अभिव्यक्त मूल्य आंचलिक नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज के हैं। इन्होंने कहा भी है- “इस प्रदेश की व्यापक पृष्ठभूमि पर जो मानव मूल्यों और उच्चतर सत्त्वों के रूप उभरे हैं, वे एकदेशीय न होकर पूरे समाज के हैं।”<sup>3</sup> इसे अन्य उपन्यासकारों ने भी प्रत्यक्ष-परोक्ष स्वीकार किया है। उन्होंने आंचलिक परिवेश में जीवन-मूल्यों के विघटन को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि वे भारतीय समाज, संस्कृति, परिवार, वर्ग आदि प्रत्येक स्तर का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। इन उपन्यासकारों ने भौतिकवाद, औद्योगीकरण एवं यंत्रवाद, शहरीकरण और राजनीतिक उठा-पटक आदि अनेक कारणों से परम्परागत मूल्यों में अवमूल्यन की दशा को विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया है। भारत में प्रायः संयुक्त परिवार का प्रचलन रहा है लेकिन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय समाज-संस्कृति और संयुक्त परिवारों में विघटन दिखाई देने लगा जिससे आज परिवार में छोटे-बड़े का भेदभाव समाप्त हो गया जिसके फलस्वरूप न तो बड़ों के अधिकार ही सुरक्षित रहे और न सामाजिक परम्परा ही परन्तु यहाँ हम कह सकते हैं कि मूल्य-अवमूल्यन ग्रामीण क्षेत्रों की बजाए शहरी क्षेत्रों में अधिक हो रहा है। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासकारों ने श्रद्धा, अनुशासन, सहयोग एवं सौहार्द इत्यादि मूल्यों

के अवमूल्यन के माध्यम से सामाजिक ताने-बाने के यथार्थ रूप को अभिव्यक्त किया है।

समकालीन परिवेश में माता-पिता और पुत्रादि पारिवारिक संबंधों एवं आचरण में विच्छेदन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। राम और श्रवण कुमार जैसे आदर्श पुत्रों का आचरण भी नई पीढ़ी के युवाओं को प्रभावित नहीं कर पाते। 'रागदरबारी' नामक उपन्यास में उपर्युक्त दशा का यथाथार्क न छोटे पहलवान (पुत्र) और कुसहर प्रसाद (पिता) के माध्यम से किया है। छोटे पहलवान स्वयं को श्रवणकुमार की तरह नहीं देखना चाहता और वह अपने पिता के साथ दुर्व्यवहार ही नहीं करता अपितु मारपीट भी कर बैठता है तब उसे नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाता है कि आपको अपने पिता का आदर करना चाहिए, तुमको उन्होंने पैदा किया है तो वह कहता है- "कोई हमने स्टाम्प लगाकर दरखास्त दी थी कि हमें पैदा करो। चले साले कहीं के पैदा करने वाले।"<sup>4</sup> सामाजिक मूल्यों के अवमूल्यन का एक रूप और देखिए- "कंधे पर काँवर रखे हुए, माँ-बाप को इधर-उधर मुर्गों की तरह लटकाकर चलना एक शर्मनाक बात थी। यह मजदूरों का काम था।"<sup>5</sup> केवल यही नहीं 'अलग-अलग वैतरणी' का हरिया भी श्रवण को आदर्श नहीं मानता। वह अपने अन्धे माता-पिता को कहता है कि "यह अन्धा समझता है कि मैं इसे काँवर में बिठाकर ढोता रहूँगा।"<sup>6</sup> हरिया पिता-पुत्र संबंधों को आर्थिक तुला पर तौलता है, जब तक खेतों में अच्छी पैदावार होती है तो परिवार में सुख-शान्ति रहती है और प्राकृतिक आपदा के कारण जब फसल नष्ट हो जाती है तो पारिवारिक संबंध भी विकृत हो जाते हैं। अतः आंचलिक उपन्यासकारों ने इस सामाजिक सत्य का उद्घाटन सजीवता से किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन उपन्यासों में पिता-पुत्र के संबंधों का अवमूल्यन ही नहीं मिलता अपितु माता-पिता और सन्तान के पारस्परिक संबंधों में माधुर्य भी दिखाई देता है- भोलानाथ (देहाती दुनिया), गीधू (हजार घोड़ों पर सवार), मंगरू (लोहे के पंख), जसोत सिंह (हौलदार), सतीश (जल टूटता हुआ) आदि ऐसे व्यक्तित्व हैं जो अपने माता-पिता की आज्ञा की अनुपालना करते हैं।

वर्तमान समाज में जातिप्रथा की भावना चरम सीमा पर है। इसी भावना के परिणामस्वरूप समाज अनेक वर्गों में विभाजित हो गया है। पारस्परिक सौहार्द ने कटुता का स्थान ले लिया, जिससे मतभेद और घृणा को बढ़ावा मिला। इस प्रकार जातिवाद की यह धारणा मानवीय मूल्यों और आदर्शों में अवरोध पैदा करती है जिससे समाज में स्वार्थपरता, अत्याचार, अन्याय और उत्पीड़न जैसे अवमूल्यों को प्रश्रय मिलता है।

आंचलिक उपन्यासों में आधुनिक युग की प्रतिस्पर्धा एवं उन्नति ने उपर्युक्त तत्त्वों को बढ़ावा दिया। 'मैला आंचल' के प्रशान्त को भी जाति संबंधी अनेक प्रश्नों का सामना करना पड़ा। देखिए - "जाति बहुत बड़ी चीज़ है। जात-पात नहीं मानने वालों की भी जाति होती है। सिर्फ हिन्दू कहने से ही पिण्ड नहीं छूट सकता। ब्राह्मण है? कौन ब्राह्मण! गौत्र क्या है? मूल कौन है? शहर में कोई किसी से जाति नहीं पूछता। शहर के लोगों की जाति का क्या ठिकाना! लेकिन गाँव में तो बिना जाति के आपका पानी नहीं चल सकता।"<sup>7</sup> इसी प्रकार 'परती परिकथा' में 'अस्तपाल' और स्कूल में जातिगत भेदभाव उस समय दिखाई देते हैं जब कायस्थ डॉक्टर केवल अपनी जाति के लोगों का इलाज अच्छी दवा देकर करता है। यही स्थिति स्कूल में भी दिखाई देती है।<sup>8</sup> केवल यही नहीं जातिगत प्रभाव हमें 'मैला आंचल' में कायस्थों 'आधा गाँव' में चमारों और मुसलमानों तथा 'अलग-अलग वैतरणी' और 'कब तक पुकारूँ' में ठाकुरों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

इस प्रकार 'धरती धन न अपना' में चौधरी लोगों का वर्चस्व है तथा 'रतिनाथ की चाची' तथा 'बाबा बटेसरनाथ' में ब्राह्मण समुदाय का बोलबाला है। 'लोहे के पंख' तथा 'देहाती दुनिया' में पूरे गाँव पर ठाकुर प्रभावी हैं। 'कब तक पुकारूँ' में ठाकुरों के प्रभाव का चित्रण देखिए - "गाँव में ठाकुर अभी तक हुकूमत कर रहा है। मैं उस अधिकार की व्यापकता को देखकर सिहर उठता हूँ क्योंकि वह धर्म की आड़ लेकर इतिहास की शताब्दियों रूपी पसलियों में भाला बनकर धँसा हुआ है। उसको देखकर चमार अभी तक में अभाव अनुभव करता है।"<sup>9</sup> इस प्रकार जातिगत विसंगतियों ने आम जनमानस को आज भी जकड़ा हुआ है। आज भी लोग कहते हैं कि छोटा-बड़ा भगवान के घर से ही बन कर आता है। देखिए - "जाति के अटोत और करम के हीन हैं। अपने चरन की धूर बुहारते पीढ़ियों गल गई। .... छोटा-बड़ा! भगवान के द्वार से ही लोग बनकर आते हैं मालिक।"<sup>10</sup> इस प्रकार की भाव-भंगिमा का प्रारूप समाज में किसी न किसी रूप में आज भी देखने को मिलता है। समकालीन परिवेश में स्वर्ण और अस्वर्ण जातियों में एक ऐसा वर्ग उभर कर सामने आया है जिसने तार्किकता और बौद्धिकता के माध्यम से जातिगत भेदभाव को अस्वीकार किया है।<sup>11</sup>

आंचलिक उपन्यासों में विवाह की प्रासंगिता, एकपत्नीव्रत और सतीत्व आदि, पति-पत्नी संबंधों आदि मूल्यों को यथावत् स्वीकार किया है। रामरूप की पत्नी (सोनामाटी), वासंती (जल टूटता हुआ) और सुगनी (बलचनमा) में सुहाग को सर्वोच्च मूल्यों के रूप में स्वीकार किया है जिससे पति-पत्नी में एकनिष्ठता का भाव दिखाई देता है लेकिन कतिपय उपन्यासों



में इस भाव का अवमूल्यन भी दिखाई देता है। 'आधा गाँव' में सैयद परिवारों के पुरुष रखे रखते हैं। इसी प्रकार 'जल टूटता हुआ' का दीनदयाल, 'अलग-अलग वैतरणी' के सुरजू सिंह और बुझारथ सिंह तथा 'रागदरबारी' के वैद्य जी आदि पुरुष परनारी गमन करके अपनी वासना की तृप्ति करते दिखाई देते हैं। उधर इन उपन्यासों में अनमेल विवाह की समस्या को भी उठाया गया है। 'देहाती दुनिया' में वितृष्णा के भाव को प्रकट करते हुए पत्नी कहती है- "मुँह झौंसें के किसी इंग में छूकर भी लाज नहीं है। मुझे अपनी खुरदरी दाढ़ी और चिपके हुए गाल दिखाने आता है... बातें करते भी जी घिनाता है।"<sup>12</sup> और निम्न वर्ग की औरतों के परपुरुष अंकशायिनी होने के पीछे सामंती व्यवस्था और प्रलोभन प्रमुख कारण हैं। 'देहाती दुनिया' की सुगिया को दरोगा की कामुकता का शिकार होना पड़ा। इसी प्रकार 'परती परिकथा' का महीचन चमार अपनी पत्नी पर शक करता है कि उसके योगेन्द्र भूमिहर से अवैध संबंध हैं। 'अलग-अलग वैतरणी', 'सूरज किरण की छाँव', 'जल टूटता हुआ' आदि उपन्यासों में यौन संबंधों पर विस्तार से चर्चा हुई है। अतः परम्परा से वर्जित यौन-संबंधों को नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन कहा जाएगा। भाभी (अलग-अलग वैतरणी), अनुजवधु (रतिनाथ की चाची), मौसेरी बहन (मैला आंचल) आदि में भी यौन-संबंधों का खुला चित्रण किया गया है।

आंचलिक उपन्यासों में नारी पात्र-प्यारी (कब तक पुकारूँ), मलारी (परती परिकथा), बदमी (जल टूटता हुआ), परबतिया (नदी फिर बह चली) इत्यादि किसी न किसी मूल्य का प्रतिनिधित्व एवं प्रतिपालन करती दिखाई देती हैं। ये पात्र परम्परागत मूल्यों से संघर्ष करते हुए नवीन मूल्यों की ओर कदम बढ़ाते दिखाई देते हैं। इसी दिशा में 'सागर, लहरें और मनुष्य' की नारी पात्र रत्ना अपने पति के अत्याचारों और निरकुशता का प्रतिरोध करती है। नारी लम्बे अर्से से रूढ़ियों और परम्पराओं का शिकार रही वहीं पुरुष की कामुकता से भी प्रताड़ित होती रही, इस प्रकार नारी अस्मिता के लिए भी संघर्ष करती दिखाई देती है। 'आधा गाँव' की सईदा जो शिया मुस्लिम समुदाय से संबंध रखती है, पढ़-लिखकर नौकरी करती है, स्वावलम्बी बनना चाहती है तो उसे अनेक अपवादों और

लांछनों का सामना करना पड़ता है। 'कब तक पुकारूँ' की प्यारी भी शोषण-चक्र का अपने ढंग से विरोध करती है। अतः हम कह सकते हैं कि उपन्यासकारों ने नारी-पात्रों के माध्यम से ग्रामीण परिवेश में नारी की दयनीय दशा का चित्रण कर नारी-मुक्ति संघर्ष को महत्त्व दिया है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारतीय समाज में संयुक्त परिवार विघटन के फलस्वरूप श्रद्धा, सम्मान, आज्ञाकारिता इत्यादि मूल्यों में संक्रमण की स्थिति उत्पन्न हुई जिसने पारिवारिक व्यवस्था को अव्यवस्थित कर दिया। केवल यही नहीं जातीयता एवं साम्प्रदायिकता के भेदभाव ने सामाजिक नींव को हिला दिया जिससे जीवन-मूल्यों में अवमूल्यन की स्थिति उत्पन्न हो गई। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासकारों ने सामाजिक यथार्थ का चित्रण करके नैतिक मूल्यों में आए विघटन को प्रदर्शित कर सामाजिक ताने-बाने पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कठोर प्रहार किए हैं ताकि अवमूल्यन की इस त्रासदी से समाज को बचाया जा सके और सामाजिक ताना-बाना सुरक्षित रह सके।

#### सन्दर्भ-

1. डॉ. कुँवरपाल सिंह, हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना, पृ. 17
2. डॉ. उर्मिला गंभीर, प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ. 38
3. रामदरश मिश्र, पानी के प्राचीर (पूर्वाभास)
4. श्रीलाल शुक्ल, रागदरबारी, पृ. 167
5. वही
6. नागार्जुन, अलग-अलग वैतरणी, पृ. 150
7. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आंचल, पृ. 52
8. वही, परती परिकथा, पृ. 26-27
9. रांगेय राघव, कब तक पुकारूँ, पृ. 40
10. वही, धरती धन न अपना, पृ. 14
11. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी, पृ. 41
12. शिवपूजन सहाय, देहाती दुनिया, पृ. 56

**पाना मामनान, खरककला (भिवानी)**

---

## हिंदी कहानी: सांप्रदायिक समता का दर्शन

धायगुडे हनुमंत विट्ठलराव

सांप्रदायिकता समस्या एक इलाके या राज्य की समस्या न होकर पूरे देश एवं विश्व की समस्या बनी है। इस समस्या का खतरा आज कदम-कदम पर है। सांप्रदायिकता की परिभाषा के प्रसंग में विख्यात इतिहासकार विधानचंद ने कहा है कि “यह एक ऐसा विश्वास है जो एक समूह विशेष को एक विशेष धर्म में विश्वास करने की प्रेरणा देता है तथा उनके सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक स्वार्थ सब एक जैसे ही होते हैं जिसके उदाहरण है भारत में हिंदू, मुस्लिम, क्रिश्चियन तथा सिक्ख। ये विभिन्न तथा स्वतंत्र संप्रदाय स्वाधीन एवं स्वतंत्र रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए तथा संगठित है। ये उस विश्वास के अनुसार मात्र एक धर्म के अनुवर्ती एक धर्मीय स्वार्थ के हिस्सेदार ही नहीं, बल्कि उनके धर्मतर स्वार्थ अर्थात् राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वार्थ से भी अभिन्न है।”<sup>1</sup> इस परिभाषा के अनुसार हमारे देश में ज्यादातर हिंदू एवं मुस्लिम धर्मों में सांप्रदायिकता की पीड़ा दिखाई देती है।

निश्चित ही इस समस्या ने हमारे देश की ‘विविधता में एकता’ को तोड़ने-मरोड़ने का प्रयास किया है। संविधानिक धर्मनिरपेक्ष केवल कहने के लिए है और असलियत कोई और ही है। जाति, धर्म, वंश के नाम पर जो राजनीति हो रही है उससे और भी सांप्रदायिक दंगों को बढ़ावा मिल रहा है। भले ही सामाजिक अस्पृश्यता नष्ट हुई हो मगर मानसिक अस्पृश्यता का संक्रमण तीव्र गति से जोर पकड़ रहा है। ‘सर्व धर्म समभाव’ केवल मंच का नारा है। किंतु धर्म-धर्म में अंतर बढ़ रहा है- “निश्चय ही इस वास्तविकता को नकारना भी असम्भव है कि हमारे वर्तमान राजनीति वातावरण ने इस समस्या को और अधिक फैलने तथा जटिल होने के अवसर प्रदान किए हैं। इस पृष्ठभूमि में हमारे देश में चल रही वोट की राजनीति ने एक समुदाय और दूसरे समुदाय, एक जाति और दूसरी जाति के बीच संस्था के आधार पर अलग-अलग पहचान बनाने की भूमिका निभाई है।”<sup>2</sup>

स्वतंत्रता पूर्व ही अंग्रेजों ने हमारे देश में सांप्रदायिकता के बीज बोये, धर्म जाति-जाति में दंगे-फसाद करवाने का कार्य विश्व में अंग्रेजों की नीति रही है। हमारी एकता, संस्कृति को

तोड़ने के लिए अंग्रेजों ने बंदूक चलाई। “सबका एक जैसा पहनावा था बातचीत का एक जैसा ढंग और शादी-विवाह की जैसी रस्में मोहरम में सब मिलकर रोते थे और ईद, बकरीद होती व दिवाली मिलकर मनाते थे।”<sup>3</sup> लेकिन 1857 के बाद हमारी एकता को अंग्रेजों ने ‘तोड़ो और राज करो’ इस तरह की नीति अपनायी। अलग-अलग धर्म में ही नहीं मनुष्य-मनुष्य में सांप्रदायिक आग सुलगायी। ये आग निरंतर धधक रही है, जो रुकने का नाम नहीं ले रही।

### कहानी में सांप्रदायिक विमर्श

साहित्यकार अपनी कलम द्वारा समय और सरोकार के अभिव्यक्ति को उचित अनुबंध के साथ उजागर करता है। साहित्य कृतियों के माध्यम से समाज को स्थिर और सही दिशा देने का कार्य करता है। हिंदी कहानियों में सांप्रदायिक पीड़ाओं को सद्भावनाओं के साथ उजागर किया है। सांप्रदायिक समस्या से मुक्त होने का बीड़ा केवल साहित्यकार ही उठाते हैं अन्य कोई नहीं। कहानियों के द्वारा इंसान की इंसानियत और आपसी एकता का महत्त्व बना रहे संवेदना, अनुभूति, आस्था के साथ दर्शाया है।

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में हिंदी रचनाकारों ने सांप्रदायिक समस्या को लेकर कई कहानियाँ लिखी। अज्ञेय जी ने ‘शरणदाता’ कहानी में हिंदू एवं मुसलमान धर्म में किस तरह दरार बनती है इसे चित्रित किया है। दोनों धर्मों के लोगों में प्रेम होते हुए भी विभाजन की त्रासदी और धर्म कट्टरता के कारण विघटित, विरोधी बनना पड़ता है। इसे सत्य घटना के माध्यम से चित्रित किया है। हिंदू धर्म के देविंदरलाल और मुसलमान धर्म के रफीक़ुद्दीन लाहौर में काफी गहरे दोस्त हैं। ये दोनों भी एक-दूसरे के बाजू में साथ-साथ रहते हैं। देश विभाजन की घोषणा ने मुस्लिम और हिंदू धर्म के लोगों में सांप्रदायिक आग झुलसी है। लाहौर में दंगे-फसाद शुरू हुए हैं। मुस्लिम लोगों की संख्या ज्यादा होने के कारण हिंदू लोगों को मारने-काटने की बात छेड़ी है। इसलिए हिंदू लोग मकान जायदाद छोड़कर पंजाब, अमृतसर, जालंधर भाग रहे हैं। देविंदरलाल जी की जाने



की इच्छा नहीं है। सारा परिवार पहले ही जालंधर चला गया है। पड़ोसी दोस्त रफीकुद्दीन भी नहीं चाहता की देविंदरलाल लाहौर छोड़कर चला जाये। वे कहते हैं- “नहीं साब हमारी नाक कट जाएगी। कोई बात है भला कि आप घर बार छोड़कर अपने ही शहर में पनाहगजी हो जाएँ? हम तो आपको जाने न देंगे, बल्कि जबरदस्ती रोक लेंगे। मैं तो इस मेजरिटी का फर्ज मानता हूँ कि वह मानरिटी की हिफाजत करें और उन्हें घर छोड़कर भागने न दें।”<sup>4</sup> इस तरह रफीकुद्दीन के मन में देविंदरलाल के लिए हमदर्दी है।

रफीकुद्दीन देविंदरलाल को अपने घर के बाजू में पुराने मकान जो खंडहर बना है उसमें छुपाता है। मुस्लिम लोग बार-बार आते हैं और देविंदरलाल की छानबीन करते हैं, फिर भी रफीकुद्दीन कुछ भी बताता नहीं। देविंदरलाल की सेवा में रफीकुद्दीन की लड़की जैबू पूरा ध्यान देती है। ईमानदारी, इंसानियत की नींव मानो जैबू को पिताजी से मिली विरासत है। पूरी लगन से खाने-पीने के सहित जैबू देविंदरलाल की सेवा करती है। इधर धर्म के लोगों का बढ़ते दबाव के कारण रफीकुद्दीन देविंदरलाल को जाने के लिए भी नहीं कह सकता और हवाले करके मरते हुए भी नहीं देख सकता। एक दिन रफीकुद्दीन देविंदरलाल के खाने में विष मिलाता है। जैबू को कहता है, कि देविंदरलाल को खिलाओ। सबसे वफादार दोस्त रफीकुद्दीन देविंदरलाल के जान का दुश्मन बनता है। जैबू को यह घृणास्पद बात पीड़ा देती है और वह देविंदरलाल को चिट्ठी लिखकर कहती है ‘खाना कुत्ते को खिलाकर खाइएगा’।

समय सूचकता और जैबू के कारण देविंदरलाल की जान बच जाती है। कुत्ता मरने के तुरंत देविंदरलाल भाग निकलता है। जब वो जालंधर पहुँचता है तो बहुत दुखी होता है। मन में रफीकुद्दीन के बजाय जैबू के लिए बड़ी इज्जत बनती है। कुछ दिन बीतने के बाद लाहौर से जैबू का खत आता है। जिसमें लिखा होता है- “आप बचकर चले गए, इसके लिए खुदा का लाख-लाख शुक्र है। मैं मनाती हूँ कि रेडियो पर जिनके नाम आपने अपील की है वे सब सलामती से आपके पास पहुँच जाएँ। अब्बा ने जो किया या करना चाहा उसके लिए मैं माँफी माँगती हूँ और यह भी याद दिलाती हूँ की, उसकी काट मैंने ही कर दी थी। एहसान नहीं जताती-मेरा कोई एहसान आप नहीं हैं-सिर्फ इल्लिजा करती हूँ की मुल्क में कोई अल्पसंख्यक मजलूम हो तो याद कर लीजिएगा। इसलिए नहीं की वह मुसलमान है, इसलिए की आप इंसान है, खुदा हाफिज।”<sup>5</sup> ईमानदार और इंसानियत से भरपूर मुस्लिम लड़की के सोच ने धर्म-धर्म का भेद मिटाकर मनुष्यता की अपील की है। जैबू के विचार समग्र मानव जाति को सोचने को मजबूर करते हैं, कि

यह भेद-भाव किस लिए?

अमृतलाल नागर की, ‘मोती की साज चलनियाँ’ इस कहानी में भी हिंदू-मुस्लिम धर्म को एकता में बांधने का दर्शन मिलता है। प्रेम के प्रतीक का चित्रण इस कहानी में है। डॉक्टरी हॉस्टल में साथ-साथ रहते हुए मुस्लिम युवती आधुनिक सोच वाली निगारा सुल्लाना हिंदू धर्म के लड़के सुरेंद्र मोहन से प्यार करती है। दोनों भी बिना अंजाम और सोचे खुद के शादी के कार्ड छापकर बाँटते हैं। इस बात से दोनों परिवार वाले दुखी ही नहीं हैरान भी है। निगार के पिता अख्तर हुसैन जो प्रोफेसर होते हुए भी सारा दोष आज की मॉडर्न शिक्षा व्यवस्था को देते हैं। इनके विचार पुरोगामी होते हुए भी बेटी के शादी का विरोध करते हुए कहते हैं “यह खून का असर है। नस्लों का, कल्चर का, आदतों का फर्क है। खून और नस्ल का सवाल अहम् है, इसलिए हमारे यहाँ रिश्ते कायम करने से पहले खानदान देखा जाता है, ....देखा जाता है। मैंने माना कि हिंदू या दीगर कौमें भी अपने-अपने ढंग से यही सब करती है, .... फर्क ही बड़ा बेढंग है।”<sup>6</sup>

सुरेंद्र मोहन के पिताजी भी लाख समझाने के बावजूद सुरेंद्र मानता नहीं। हॉस्टल के अन्य डॉक्टर सहयोगी सुरेंद्र और निगार का विवाह बड़े धूम-धाम से करते हैं। दोनों विवाह के बंधन में बंध जाते हैं। दूसरे दिन इस विवाह की चर्चा अखबारों में छपती है। लेकिन किसी को भी फर्क नहीं पड़ता न अफसोस है न दुःख। जस-के-तस दिनचर्या होती है। धार्मिक एकता, सद्भाव, प्रेम का लगाव इस कहानी में व्यक्त होता है।

‘दंगाई’ अब्दुल बिस्मिल्लाह की कहानी है। दंगा-फसाद की जड़ का विरोध करते हुए इन्होंने भी हिंदू एवं मुस्लिम धर्म की एकता का मार्मिक दर्शन इस कहानी में करवाया है। बस्नतू नाम का हिंदू लड़का शहर में सांप्रदायिक दंगे की आग भड़कने के कारण अपने गाँव लौट आता है। इसके दिमाग में भी वही विचार चल रहा है, जो दंगा-फसाद करके मुसलमानों को मारना चाहता है। गाँव में हिंदू एवं मुस्लिम लोगों की संख्या समान है और मिल जुलकर रहते हैं। शहर में सांप्रदायिक दंगे होने के बावजूद भी गाँव में कोई असर नहीं पड़ता। लेकिन बस्नतू गाँव लौटते ही यह विचार शुरू होता है। मुस्लिम भाई मौलवी जमालुद्दीन साहब जब खुशहाली पूछते हैं, “वहाँ खैरियत से तो रहे बेटा? सुना है दंगा-फसाद बहुत मचा है” “हाँ मचा तो है, पर हमारा कोई क्या टेढ़ा कर लेगा वहाँ, तुम बचे रहे मौलाना, अब यहाँ भी दंगा होगा।”<sup>7</sup>

गाँव में रामलीला चल रही होती है। ....दंगा करने के इरादे से वहाँ दोस्तों के साथ पहुँचता है। मगर वो यह देखता है कि, रामलीला में अलग-अलग पात्रों की भूमिका निभाने वाले

कलाकार सबसे ज्यादा मुसलमान भाई ही है। रामलीला का आयोजन भी मुस्लिम भाइयों ने ही किया है। डॉ. बशीर अहमद इसके प्रमुख हैं। सारे चित्र को देखकर अपने-आप पर लज्जित होता है। खुद को दोष देता है। मुस्लिम भाइयों के प्रति प्रेम, संवेदना बढ़ती है। ...को लेकर निकलता है। यह सोचता है कि, जातियता धर्म का असर हमारे मन के भीतर विद्यमान है जिसे निकालकर फेंकना चाहिए। असली धर्म तो मनुष्यता है।

नमिता सिंह की 'राजा का चौक' कहानी भी धार्मिक एकता का महत्वपूर्ण प्रतीक है। किंतु अंत में यही एकता टूटकर दुश्मनी में विलीन होती है। इसका कारण अन्य लोगों का स्वार्थ होता है। 'राजा का चौक' इस इलाके का नाम है, जो राजा कुँवर वीरेंद्र नारायण अपनी ढलती उम्र में पैदा हुए औलाद के खुशी में काम करने वाले सारे धर्म के लोगों को इनाम में देता है। वही ये सारे लोग बस्ती बनाकर रहते हैं। ये सारे धर्म के लोगों एकता का प्रतीक इस कहानी से स्पष्ट होता है। दो पीढ़ियों तक यहाँ कोई आपत्ति नहीं आती। ये बस्ती जब गाँव में बदल जाती है, तब सारी सुविधाएँ तैयार होती हैं। सड़कों का निर्माण होता है। अलग-अलग वाहन दौड़ती हैं। छोटी-मोटी दुकानें भी लग जाती हैं।

कहानी के प्रमुख पात्र छोटा बच्चू और बड़ा बच्चू बचपन से गहरे दोस्त रहे हैं। इस जगह पर बिल्डर दुर्गासन की नज़र है जिसे वो कोर्ट में मुकद्दमा लड़कर और राजा के बूढ़े हुए बेटे को हाथ मिलाकर हड़पना चाहता है। इस विरोध में छोटा बच्चू और बड़ा बच्चू जब खड़े होते हैं तो कमजोरी का फायदा उठाकर दुर्गासन दोनों के बीच फूट डालता है। दोनों की दोस्ती टूट जाती है। जमीन को पाकर दुर्गासन झोपड़िया हटाकर पंचतारांकित होटल बनाता है, जहाँ चौकीदार के रूप में बड़े बच्चू को रखता है। छोटा बच्चू क्रोधित होकर हथगोले से होटल गिराने की साज़िश करता है। होटल का उद्घाटन बड़े नेता के हाथों करने के दिन बच्चू हथगोले लेकर होटल की तबाही करने के लिए जाता है। लेकिन बड़ा बच्चू ये होने नहीं देता। दोनों के बीच झगड़ा होता है। बड़े बच्चू की जान एक हथगोले के कारण जाती है। छोटा बच्चू भी गंभीर जख्मी होता है दोनों दोस्त एक-दूसरे का शिकार होते हैं। इस घटना को लेकर दुर्गासन जब पुलिस-थाने में रिपोर्ट दर्ज करने जाता है तब कहता है "अच्छा? मुसलमान था यह। है! पूरी तैयारी थी बदमाश की चाकू भी-हथगोले भी। हे भगवान्! यह तो पूरा होटल उड़ा देता।" इस तरह सांप्रदायिक दंगे का रूप देकर केस दर्ज होता है और मुसलमान-मुसलमान भाइयों में ही झगड़ा लगाया जाता है।

'अमृतसर आ गया है', भीष्म साहनी की विभाजन की

त्रासदी और दो धर्म का टकराव इस पीड़ा को व्यक्त करने वाली कहानी है। यह कहानी रेलगाड़ी के एक डिब्बे की घटना है। इस डिब्बे में मुस्लिम, हिंदू, सिक्ख सारे धर्म के लोग एक साथ सफर कर रहे हैं। लाहौर से दिल्ली की ओर आ रही रेलगाड़ी विभाजन की घोषणा के कारण खचा-खच भरी है। रेल डिब्बे में बैठे लोग बाहर के लोगों को अंदर आने नहीं देते। एक मुस्लिम पठान आदमी साथ वाले लोगों का मजाक उड़ाता है। एक दुबला-पतला आदमी भी है जिसका मजाक बार-बार करता है। यह आदमी गुस्सा, क्रोधित होते हुए भी चुप-चाप बैठा रहता है। लेकिन जैसे-जैसे गाड़ी अमृतसर के नज़दीक आ जाती है वैसे ही वह चिल्लाकर कहता है... "अमृतसर आ गया है।...ओ बे पठान के बच्चे नीचे उतर तेरी माँ की...नीचे उतर तेरी उस पठान बनाने वाली की मैं..." इस प्रकार गुस्सा निकालता है। आदमी का क्रोध देखकर पठान उतरकर चला जाता है। चूँकि गुस्से से सवार आदमी अपना सारा क्रोध दूसरे मुस्लिम भाई के सिर पर लोहे की छड़ मारकर निकालता है। जिसका कोई भी दोष नहीं है। ये आदमी डिब्बे से गिरकर मरता है। इस तरह किसी और का गुनाह और किसी दूसरे को सजा यह दर्शन इस कहानी में है।

सांप्रदायिक समस्या के कारण अलग-अलग धर्मों के बीच टकराव निर्माण हो रहा है। कभी सीमावाद तो कभी धर्म के नाम पर दंगे-फसाद हो रहे हैं। इस विषमता का जहर पूरे विश्व में फैला है।

#### संदर्भ-

1. शैलेंद्र कुमार वंद्योपाध्याय, दंगों का इतिहास, पृ. 24
2. (सं.) गिरिराज शरण, सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, पृ. 5
3. कृष्ण प्रताप सिंह, लोकमत समाचार, लोकरंग अंक, दि. 12 जनवरी 2014, पृ. 2
4. (सं.) गिरिराज शरण, सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, शरणदाता, पृ. 36
5. वही, पृ. 20
6. (सं.) गिरिराज शरण, सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, मोती की सात चलनियाँ, पृ. 26
7. सं. गिरिराज शरण, सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, दंगाई, पृ. 72
8. (सं.) गिरिराज शरण, सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ, राजा का चौक, पृ. 72
9. (सं.) विद्याधर शुक्ल, श्रेष्ठ प्रगतिशील कहानियाँ, अमृतसर आ गया है, पृ. 94

**शोध छात्र, हिंदी विभाग, डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद**

---

## आत्मकथा के उद्भव और विकास में आर्य समाज सेवकों का योगदान

### खुशबू

किसी भी व्यक्ति विशेष द्वारा अपनी निजी घटनाओं को सत्यता, कलात्मकता यथार्थता, ईमानदारी, तटस्थता और वास्तविकता के साथ शब्दबद्ध करना ही आत्मकथा है। हिन्दी आत्मकथा का प्रारम्भ बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथानक' से माना जाता है। जिसकी रचना सन् 1614 में हुई। जिसमें रचयिता ने तत्कालीन लोक प्रचलित सामान्य भाषा का प्रयोग कर पद्य शैली में अपने जीवनानुभवों को चित्रित किया। जिसके सन्दर्भ में वह लिखते हैं कि "मध्यदेस की बोली बोलि। गर्भित बात कहौं हिय खोलि।। भाखू पूरब-दसा-चरित्र। सुनहु कान धरि मेरे मिटावा।। 7।। 1"।

बनारसीदास जैन जी की आत्मकथा से पूर्व संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में भी आत्मकथा लेखन के संकेत नहीं मिलते। कुछ कवियों और विद्वानों ने स्वयं के सम्बन्ध में दो-चार वाक्य अवश्य लिख दिए हैं। हिन्दी साहित्य में भी आदिकाल, पूर्व मध्यकाल में (बनारसीदास जैन के अतिरिक्त), उत्तर मध्य काल में आत्मकथात्मक विधा को प्रोत्साहन नहीं मिला। अधिकतर विद्वानों ने तत्कालीन परिस्थितियों के कारण अपनी जीवन घटनाओं के उद्घाटन को आत्मकथाप्रकाशन का द्योतक समझते हुए, अपनी लेखनी को मौन ही रखा। जिस कारण हिन्दी साहित्य की प्रथम आत्मकथा और द्वितीय आत्मकथा में लगभग दो सौ तैंतीस साल का समयांतराल दिखाई पड़ता है।

आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती जी ने सर्वप्रथम अपनी जीवन घटनाओं को हिन्दी भाषा में लेखबद्ध कर सामान्य पाठकों को अनमोल कृति प्रदान की है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने आर्य समाज की स्थापना सन् 1875 में बम्बई में की थी। जिसका मुख्य उद्देश्य स्वदेश, स्वधर्म तथा स्वसंस्कृति के लिए तत्कालीन लोगों में प्रेम और आदर की भावनाओं का विकास कर, भारतीय आर्य जाति को पुनः वैदिक धर्म में प्रवेश दिलाना था। जिसके लिए शुद्धि आन्दोलन भी चलाया गया। महर्षि दयानन्द जी की ज्ञान शक्ति और आर्य समाजी सिद्धान्तों ने अधिकतर तत्कालीन वैष्णव और शैव धर्म की उपासना करने वाले व्यक्तियों के विचारों को परिवर्तित कर, वेदों की ओर लौटने का नारा दिया। आर्य समाजी संगठन

ने अनेक ऐसे देशभक्त और क्रान्तिकारी समाज को दिए। जिन्होंने देश प्रेम हेतु अपने प्राणों को भी न्यौछावर कर दिया। महर्षि दयानन्द जी ने अनेक पुस्तकों का सृजन किया। जिनमें सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक उनकी 'सत्यार्थ प्रकाश' थी। जो तत्कालीन समाज की माँग के अनुसार लिखी गई। आर्य समाज-संगठन के सेवकों ने आर्य-समाजी सिद्धान्तों को अपनाकर, महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के जीवन को आदर्श रूप में ग्रहण कर, उनके क्रियाकलापों का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया। जिसमें एक अनुकरण पद्धति हिन्दी साहित्य की आत्मकथात्मक विधा के विकास में सहायक बनी।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी को अपने जीवनानुभवों को शब्दबद्ध करने के दो अवसर प्राप्त हुए। सर्वप्रथम उन्होंने 4 अगस्त 1875 के व्याख्यान में अपना संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त प्रस्तुत किया। जो पूर्ण के 15 व्याख्यान पूना प्रवचन अपरनाम 'उपदेश मज्जरी' के नाम से प्रकाशित हुए। दूसरा यह कि थियोसोफिल सोसाइटी के प्रवर्तक कर्नल एच.एस. ऑल्काट ने स्वामी जी से उनके जीवनानुभवों को लेखबद्ध कराकर, थियोसोफिस्ट पत्र में प्रकाशनार्थ भेजने का आग्रह किया। इस अनुरोध को स्वीकार कर, उन्होंने अपने जीवन की विभिन्न घटनाओं को शब्दबद्ध कर, नर्मदा भ्रमण तक का वृत्तान्त तीन किस्तों में लिखकर द थियोसोफिस्ट नामक समाचार पत्र को भेज दिया।

दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् 1824 में कठियावाड़ प्रान्त के मौरवी राज्य के अन्तर्गत टंकारा नामक नगर में हुआ। इन्होंने अपनी आत्मकथा में जीवन परिवर्तन में सहायक मुख्य-मुख्य घटनाओं और वेदों के ज्ञानार्जन के लिए किए गए प्रयासों को चित्रित किया है। इनके पिता कष्टर शिवोपसक थे और अपने पुत्र को भी शिव जी की महिमा के गान सुनाया करते थे। बाल्यावस्था में दयानन्द जी को शिवोपसना सम्बन्धी व्याख्याओं ने इतना प्रभावित किया कि उन्होंने शिवरात्रि के लिए उपवास रखने का निश्चय कर लिया। शिवरात्रि के दिन दयानन्द सरस्वती ने देखा कि "मन्दिर में बिल से चूहे बाहर निकले और महादेव की पिण्डी के चारों तरफ फिरने लगे। पिण्डे पर जो

चावल चढ़ाये हुए थे उन्हें ऊपर चढ़कर खाने भी लगे।”<sup>2</sup> इस घटना का बालक दयानन्द पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह मूर्तिपूजा विरोधी बन गए।

इनके जीवन को प्रभावित करने वाली दूसरी मुख्य घटना इनकी बहन और चाचा का परलोकवासी होना था। जिस कारण दयानन्द जी का सांसारिक मोह माया से वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने ब्रह्मचार्य का पालन करते हुए, संन्यास ग्रहण कर, दयानन्द सरस्वती नाम को अपनाया। इस प्रकार दयानन्द जी की आत्मकथा, सामान्य पाठकों को दयानन्द जी के व्यक्तित्व की झँकियों के निकट ले जाती है।

दयानन्द सरस्वती के आत्मकथा लेखन के उपरांत सीताराम सूबेदार कृत ‘सिपाही से सूबेदार तक’, अम्बिकादत्त व्यास कृत ‘निज वृत्तांत’ और सत्यानंद, अग्निहोत्री कृत ‘मुझमें देवजीवन का विकास’ का प्रकाशन हुआ। इनके अतिरिक्त भारतेन्दु जी के साथ-साथ राधाचरण गोस्वामी और प्रतापनारायण मिश्र जी ने भी आत्मकथा लिखने का प्रयास किया। परंतु दुर्भाग्यवश ये आत्मकथाएं अपूर्ण रह गईं।

आर्य सामाजिक क्षेत्र में महर्षि दयानन्द के बाद सम्पूर्ण आत्मकथा लिखने का सत्प्रयास करने वाले उन्हीं के परमभक्त और सुशिष्य भाई परमानन्द थे। भाई परमानंद कृत ‘आपबीती’ का प्रकाशन सन् 1922 में हुआ था। भाई परमानंद के जीवन का मुख्य उद्देश्य आर्य समाज के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार और सामान्य जनता के हृदय में देशभक्ति रूपी बीज को पल्लवित करना था। जिसके सन्दर्भ में इन्होंने स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखा कि “मेरा विचार था कि आर्य समाज का कार्य संपूर्ण संसार के लिए एक ही है कि वह मनुष्य मात्र के लिए असत्य मतों का नाश करके सत्य का प्रकाश करें, परंतु इसके पूर्व या साथ-साथ उस जाति में आत्मिक बल द्वारा जीवंतता उत्पन्न करे जिसने अभी तक वैदिक धर्म की रक्षा की है।”<sup>3</sup> “केवल आर्य समाज ही हिंदू जाति में प्राण संचालित कर सकता है।”<sup>4</sup>

भाई परमानंद जी ने अपनी आत्मकथा में अपनी कारावास की कहानी और तत्कालीन ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीयों पर होने वाले अत्याचारों को भी यथार्थता के साथ व्यक्त किया है।

भाई परमानंद के बाद गुरुकुल काँगड़ी के संस्थापक आर्य समाजी स्वामी श्रद्धानन्द जी ‘कल्याण मार्ग का पथिक’ नामक आत्मकथा सन् 1924 में प्रकाशित हुई। इन्होंने अपनी आत्मकथा में पथिक मुंशीराम से महात्मा मुंशीराम व महात्मा मुंशीराम से स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती बनने की कहानी को यथार्थ रूप में चित्रित किया है। इनके जीवन का मुख्य उद्देश्य आर्य समाजी सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करना था। स्वामी जी

ने अपने आत्मकथात्मक प्रयोजन को स्पष्ट रूप में शब्दबद्ध करते हुए लिखा कि “मेरी गिरावट की कहानियाँ बहुत से श्रद्धालु हृदयों को ठेस लगायेगी, परन्तु मुझे यह विश्वास है कि इस आत्मकथा के पाठ से बहुत युवकों को संसार यात्रा में ठोकरों से बचने की शक्ति भी मिलेगी।”<sup>5</sup>

प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कवि पं. रामप्रसाद ‘बिस्मिल’ की आत्मकथा श्री गणेश शंकर विद्यार्थी द्वारा सर्वप्रथम ‘काकोरी के शहीद’ के एक अंश के रूप में सन् 1928 में प्रकाशित हुई। तत्कालीन अंग्रेज सरकार ने इसे जब्त कर लिया था। इसका पुनः प्रकाशन बनारसीदास चतुर्वेदी के सुप्रयासों से सन् 1958 में संभव हो सका।

रामप्रसाद बिस्मिल जी भी आर्य समाजी सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित थे। जिसके सन्दर्भ में लिखते हैं कि “सत्यार्थ प्रकाश के अध्ययन ने मेरे जीवन के इतिहास में एक नवीन पृष्ठ खोल दिया। मैंने उसमें उल्लेखित ब्रह्मचर्य के कठिन नियमों का पालन करना आरम्भ कर दिया।”<sup>6</sup>

रामप्रसाद बिस्मिल जी की आत्मकथा के बाद प्रसिद्ध देशभक्त, कांग्रेस के गरमदल के नेता लाला लाजपतराय ने अपने जीवनानुभवों को शब्दबद्ध कर, पाठकों को अपनी जीवनशैली और उनके द्वारा किए गए महत्त्वपूर्ण कार्यों और ब्रिटिश सरकार की अत्याचारपूर्ण नीतियों से अवगत कराके, उन्हें सतर्क करने का प्रयास किया।

लाला लाजपतराय जी सच्चे आर्य समाजी देशभक्त थे। इन्होंने भी आर्य-समाज के सिद्धान्तों को ही अपने जीवन की आधारशिला के रूप में देखा। जिसके सन्दर्भ में लिखते हैं “आर्य समाज ने मुझे अपनी जाति से प्यार करना सिखलाया, आर्य समाज ने मुझे कुर्बानी का मार्ग दिखलाया। आर्य समाज ने मेरे अन्दर सत्यधर्म और स्वतन्त्रता की रूह फूँकी। आर्य समाज ने मुझे यह शिक्षा दी कि समाज और देश की पूजा और सेवा करनी चाहिए और उनकी सेवा में जो मनुष्य बलिदान करता है और दुःख उठाता है उसे स्वर्ग का राज्य मिलता है। मतलब यह है कि मैंने सार्वजनिक लोक-सेवा के तमाम सबक आर्य समाज में रहते हुए आर्य समाज से सीखे। आर्य समाज के क्षेत्र में मैंने प्यारे मित्र बनाए। आर्य समाज के क्षेत्र में ही मैंने सार्वजनिक जीवन में पवित्रता के नमूने देखे। आर्य समाज के उपकार मेरी गर्दन पर अनगिनत और असीम हैं। अगर मेरा बाल-बाल भी आर्य समाज पर न्योछावर हो जावे तो भी मैं उन उपकारों से उन्नत नहीं हो सकता।”<sup>7</sup>

इस प्रकार दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा से लेकर सन् 1932 तक जिन महत्त्वपूर्ण आत्मकथाओं का सृजन हुआ। उनमें अधिकतर आत्मकथा-लेखक आर्य समाज सेवक थे।

लाला लाजपतराय जी कृत आत्मकथा के साथ-साथ ही प्रेमचन्द जी द्वारा 'हंस पत्रिका आत्मकथा' का प्रकाशन सन् 1932 में हुआ। जिसका मुख्य उद्देश्य आत्मकथा जैसी साहित्यिक विधा का महत्त्व उद्घाटित कर, उसे विकास के पथ पर अग्रसर करना था। जिस कारण सन् 1932 से लेकर सन् 1944 तक के युग को प्रेमचन्द युग के नाम से जाना गया।

प्रेमचन्द युग में आर्य समाज सेवक महात्मा नारायण स्वामी की आत्मकथा सन् 1943 में प्रकाशित हुई। आत्मकथा के माध्यम से जहाँ स्वामी जी के व्यक्तित्व और पारिवारिक स्थितियों के दर्शन होते हैं वहीं आर्य समाज के क्षेत्र में महात्मा जी के योगदान का परिचय मिलता है। इस पुस्तक की भूमिका में लेखक ने अपना उद्देश्य इन शब्दों में स्पष्ट किया है कि "एक व्यक्ति जिसने पारिवारिक साधनों से किसी प्रकार की भी उपयोगी शिक्षा न प्राप्त की हो, किस प्रकार समाज की सेवा करने के योग्य बन सकता है। इसी का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए इन पृष्ठों को लिखने का साहस किया है।"<sup>18</sup>

प्रेमचन्दोत्तर युग में भी आर्य समाज सेवकों द्वारा आत्मकथा-लेखन का क्रम नहीं टूटा। सन् 1945 में राहुल सांकृत्यायन कृत जीवन-यात्रा भाग-1 का प्रकाशन हुआ। जिसमें राहुल जी ने अपने जीवन की घटनाओं को विस्तृत रूप में लिखा। राहुल जी ने अपनी आत्मकथा के माध्यम से अपनी धर्म संबंधी परिवर्तित विचारधाराओं को स्पष्ट रूप से लिखा। प्रारम्भिक जीवन के चरण में यह वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। परन्तु दयानन्द सरस्वती कृत 'सत्यार्थ प्रकाश' पढ़ने के उपरान्त यह पूर्णरूप से आर्य समाज सेवकों की भाँति जीवनयापन करने लगे। जिसे उन्होंने स्वयं निर्भय और स्पष्टता के साथ स्वीकारते हुए कहा कि "धर्म से मेरा मतलब आर्य समाज और स्वामी दयानन्द के मान्य वैदिक धर्म से था। बाकी धर्मों, ईसाई, इस्लाम, यहूदी, बौद्ध ही नहीं हिन्दू धर्म के अनेक सम्प्रदायों को भी मैं झूठे धर्म और वेद और विज्ञान के प्रकाशन में शीघ्र ही लुप्त हो जाने वाले धर्म समझता था।"<sup>19</sup>

राहुल सांकृत्यायन के उपरान्त भवानी दयाल संन्यासी जी ने अपने जीवन वृत्तान्त को लिखकर, दक्षिण अफ्रीका में रह रहे भारतीय प्रवासियों की करुणामय गाथा और स्वतन्त्रता आन्दोलन से सम्बन्धित तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण यथार्थ रूप में किया है। भवानी दयाल संन्यासी जी ने स्वयं को आर्य समाज राष्ट्रभक्त के रूप में देखा। जिस कारण वह आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती की पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा उसमें निहित उनके विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुए और स्वयं भी एक आर्य समाज सेवक बन गये।

सन् 1948 में आर्य समाज सेवक गणेश नारायण

सोमाणी की 'आत्मकथा' प्रकाशित हुई। इन्होंने अपने बाल्यकाल से लेकर स्वतन्त्रता-आन्दोलन तक की कथा क्रमिक रूप से प्रस्तुत की है। डॉ. कमलेश सिंह के अनुसार "आर्य समाज के विचारों को समाज में फैलाने के लिए उन्हें जिन संघर्षों का सामना करना पड़ा, उसके चित्र भी इस आत्मकथा में अपना प्रभाव छोड़ गये हैं। जिस व्यवहार कुशलता से व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों में पनपकर ऊपर उठ सकता है, उसका एक उत्कृष्ट उदाहरण इस कृति से प्राप्त होता है।"<sup>10</sup>

सन् 1951 में आर्य समाज सेवक स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की आत्मकथा "स्वतन्त्रता की खोज" का प्रकाशन हुआ। जिसमें लेखक ने अपने जीवनानुभवों को पूर्ण ईमानदारी, सत्यता और स्पष्टता के साथ व्यक्त किया। लेखक ने "आर्य समाज के माध्यम से ही राष्ट्रवाद की आवाज़ बुलंद की और आर्य समाज उनकी हर प्रवृत्ति का आधार रहा है। राष्ट्रभाषा की प्रगति तथा समाज के उत्थान के लिए उन्होंने अनेक कार्य किये और लोगों में देश धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न की।"<sup>11</sup>

नन्दलाल शर्मा 'निर्वासित' की 'आत्मकथा' में उनकी समाज सेवी रूपी भावनाएं, देशभक्ति, राज्य भक्ति, स्वराज्य के संकल्प और अंग्रेजों के प्रति उनकी घृणा उद्घाटित हुई हैं। जिसके सन्दर्भ में डॉ. विनीता अग्रवाल लिखती हैं कि "बाल बुद्धि के पौधों सम्बन्धी प्रयोग, हंसी के कारण अपमानित मन का सात दिनों के अन्दर उर्दू सीखने, आर्य समाज के सत्य जँचने पर आर्य समाजी बनने, मुसलमानों के द्वारा स्वामी श्रद्धानन्द जी के हत्या के बाद मुसलमानों का शत्रु बन जाने, लाला लाजपतराय की शहादत, कांग्रेस की राजनीति की ओर मन के झुकाव, आन्दोलनकारियों की अन्दरूनी ईर्ष्या और द्वेष-सम्बन्धी सहज घटनाएँ आत्मकथा में क्रमशः आती हैं।"<sup>12</sup> इनके अतिरिक्त यशपाल कृत 'सिंहावलोकन' सन् 1951, अलगूराय शास्त्री कृत 'मेरा जीवन' सन् 1960, देवेन्द्र सत्यार्थी कृत 'चांद सूरज के वीरन', सन् 1952, गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत 'जीवन चक्र' सन् 1954, गंगाप्रसाद कृत 'मेरी आत्मकथा' सन् 1954, आचार्य चतुरसेन कृत 'यादों की परछाइयां' सन् 1956, नरदेव शास्त्री कृत 'आप बीती जग बीती' सन् 1957, डॉ. देवराज उपाध्याय कृत 'बचपन के दो दिन' सन् 1958, स्वामी वेदानन्द तीर्थ कृत 'जीवन की भूले' सन् 1956, स्वामी ब्रह्ममुनि कृत आत्मकथा सन् 1961, स्वामी उभयदेव कृत आत्मकथा सन् 1961, महात्मा भगवान दीन कृत 'जीवन झांकी' सन् 1962, आचार्य चतुरसेन शास्त्र कृत मेरी आत्मकहानी सन् 1963, डॉ. नगेन्द्र कृत 'अर्द्धकथा' सन् 1988, स्वामी विधानन्द विदेह कृत 'विदेह-गाथा', सन् 1978, स्वामी सोमानन्द कृत **शेष भाग पृ. 24 पर.....**



## हिंदी कथासाहित्य में अल्पसंख्यक समाज की स्थिति एवं संभावनाएँ

### करिश्मा अय्युब पठाण

‘अल्पसंख्यक’ शब्द दो शब्दों के योग से बना है-‘अल्प +संख्यक’। ‘अल्प’ का अर्थ है कम और ‘संख्या’ का अर्थ होता है- गणना। इस भू-भाग पर जब कोई अत्यंत अल्प मात्रा में रहने लगता है तो उसे अल्पसंख्यक कहा जाता है। देखा जाये तो वर्तमान समय साहित्य के लिए विमर्शों का दौर है। नारी-विमर्श, आदिवासी विमर्श, दलित विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श, ऐसे एक नहीं बल्कि अनेक विमर्श एक साथ चल रहे हैं और वह साहित्य जगत में महत्वपूर्ण साबित हुए हैं और हमें इन विषयों को केवल साहित्यिक विमर्श के रूप में न देखकर हमें इन विमर्शों को सामाजिक धारा के रूप में धारा प्रवाहित होता हुआ देखना है। क्योंकि धारा का कभी अंत नहीं होता और नहीं उसमें स्वानुभूति-सहानुभूति का संघर्ष उत्पन्न होता है। यह भी नहीं होना चाहिए कि केवल अल्पसंख्यकों द्वारा लिखा गया साहित्य ही अल्पसंख्यक साहित्य माना जाए क्योंकि साहित्यकार की अपनी कोई जाति-धर्म नहीं होता है ना साहित्य का। वह तो समय के सच को पकड़ने के लिए शब्द को कारगर हथियार के रूप में इस्तेमाल करता है। क्योंकि समय एक सच्चा अनुभव है, शब्द है, काल चेतना है।

भारतीय गणतंत्र में हिंदू धर्म के बाद इस्लाम दूसरा सर्वाधिक प्रचलित धर्म है। इस समाज की जनसंख्या 13.4 प्रतिशत से भी अधिक है। भारत के गृहमंत्रालय के संकल्प दि. 12/01/1978 परिकल्पना के तहत राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना की गई। किंतु 1984 में कुछ समय के लिए अल्पसंख्यक आयोग को गृहमंत्रालय से अलग कर दिया गया था तथा कल्याण मंत्रालय के अंतर्गत नए रूप में गठित कर दिया गया। भारत सरकार द्वारा 23 अक्टूबर 1993 को अधिसूचना जारी करके अल्पसंख्यक समुदाय के तौर पर पाँच धार्मिक समुदाय में मुस्लिम, ईसाई, सिख, बौद्ध तथा पारसी समुदायों को अधिसूचित किया गया था। वैसे तो अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में मुस्लिम समाज ही अधिक चर्चा में रहा है। 2001 की जनगणना के अनुसार 138 मिलियन से भी अधिक जनसंख्या मुस्लिम समाज की रही है। भारत देश में इस्लाम का आगमन 12वीं शताब्दी में हुआ था और तब से यह भारत की

सांस्कृतिक और धार्मिक विरासत का एक अभिन्न अंग बन गया है। वर्षों से संपूर्ण भारत में हिंदू और मुस्लिम संस्कृति का अद्भुत मिलन होता आया है। भारत के आर्थिक उदय सांस्कृतिक प्रभुत्व में मुसलमानों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

भारतीय समाज में विभिन्न धर्म और संस्कृति के लोग निवास करते हैं। विभिन्न वंश, भाषा और धर्म के कारण विविधता दिखाई देती है। इसी धर्म, संस्कृति, भाषा, जाति और जनजाति के आधार पर अल्पसंख्यक की निर्मिति हुई है। जनजाति के आधार पर अल्पसंख्यक की निर्मिति हुई है। इसी निर्मिति के साथ संविधान ने दलित और अल्पसंख्यकों का विशिष्ट अधिकार दिए हैं। मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा 1948 ने व्यवस्था की है (धारा 1)। अपने अधिकार और मान-मर्यादा दोनों में सभी लोग जन्मजात स्वतंत्र हैं।

विभाजित भारत में मुसलमानों की दशा और उनके जीवन संघर्ष की सशक्त अभिव्यक्ति हिंदी साहित्य में बड़ी बेबाकी से हुई है। मुसलमान समाज को विषय बनाकर बहुत से कहानी उपन्यासों की रचना हुई है। भीष्म साहनी का ‘तमस’, यशपाल का ‘झूठा सच’, कमलेश्वर का ‘लौटे हुए मुसाफिर’, राही मासूम रज़ा का ‘आधा गाँव’, टोपी शुक्ला शानी का ‘काला जल’, अब्दुल बिस्मिल्लाह का ‘झीनी-झीनी बीनी चदरिया’, मुशरफ आलम जौकी का ‘मुसलमान’, ‘बयान’, मेहरुन्निसा परवेज़ का ‘कोरजा’, बादशाह हुसैन रिज़वी का ‘मैं मुहाजिर नहीं हूँ’ तथा अनवर सुहैल का ‘पहचान’ उपन्यासों में मुस्लिम समाज को देखने का दृष्टिकोण परिलक्षित होता है।

आज सरकारी नौकरियों में अल्पसंख्यक मुसलमानों को कोई स्थान नहीं है। नतीजा यह हुआ कि परंपरागत निम्न व्यवसाय करते हुए गुज़ारा करना पड़ता है। ‘पहचान’ उपन्यास में अनवर सुहैल मुसलमानों की असलियत में पहचान क्या है? उनकी पढ़ाई यह स्कूलों, विश्वविद्यालय में न होकर वह कहते हैं मुस्लिम युवकों को पहचान की तलाश है। यहाँ के बच्चों की शिक्षा, सिनेमा हॉलों, गैरेजों और चाय-पान की गुमटियों में होती है, जिन्हें भूगोल का ज्ञान ट्रक चालकों से, इंजीनियरिंग का ज्ञान गैरेजों में खटकर, ड्रेस डिजाइनिंग का हुनर दर्जी की दुकान

से और ब्यूटिशियन का डिप्लोमा नाई की दुकान से मिलता है। इस संदर्भ में लेखक यूनुस के जरिये कहते हैं-“यूनुस ने फुटपाथी विश्वविद्यालय की पढ़ाई के बाद इतना अनुमान लगाना जान लिया था कि इस दुनिया में जीवन है तो फिर खाली हाथ न बैठे। कोई कुछ काम करता रहे। तन्हा बैठ आँसू बहाने वालों के लिए इस नश्वर संसार में कोई जगह नहीं।”<sup>1</sup>

अगर भारतीय मुसलमानों के जीवनशैली को देखा जाये तो उनकी खास पहचान होती है। उनका बोली-भाषा, रहन-सहन, तीज-त्यौहार, खान-पान के अनेक विसंगतियों से भरी उनकी जिंदगी को अनेक उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में स्थान दिया। ‘कोरजा’ उपन्यास में मेहरुन्निसा परवेज ने पारिवारिक कलह के साथ नारी की विडम्बनाओं पर प्रकाश डाला है।

अब्दुल बिसमिल्लाह के ‘झीनी बीनी चदरिया’ उपन्यास में जहाँ बुनकरों की आर्थिक शोषण का वर्णन किया गया है वहीं पारिवारिक कलह का भी चित्रण किया है। क्योंकि किसी भी परिवार की आर्थिक व्यवस्था को पारिवारिक परिवेश से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

हमें हिंदी उपन्यासों में सांप्रदायिकता बड़े पैमाने पर दिखाई देती है और उस सांप्रदायिकता के चलते मुसलमान समाज को शक की नज़र से देखा जाता है। नमिता सिंह का ‘लेडीज क्लब’ ऐसा ही एक उपन्यास है जिसमें हमें अलगाव, सामाजिक बंधन, सांप्रदायिकता की महक मिलती है। इस उपन्यास की पात्र शहनाज़ आपा, गज़ाला, अज़रा जैसी स्त्रियाँ सामाजिक बंधनों से जूझती दिखाई देती हैं। वहीं लेडीज क्लब भी सामाजिक दुश्प्रभावों से अछूता नहीं रहता है। शहनाज़ लीला गुप्ता से कहती है, “क्या पढ़ाने नहीं आती तुम? रोज डिपार्टमेंट तक आती हो। महीने में एक दिन गेस्ट हाउस तक आना, अब इतनी मुसीबत का काम हो गया।”<sup>2</sup>

लीला गुप्ता के क्लब में न पहुँचने और शहनाज़ आपा के पीड़ा के बहाने उसके अलगाव को रेखांकित किया जो जाने-अंजाने में आकार लेता चला जाता है। एक ऐसा अलगाव जिसके दुश्परिणाम सन् 1947 में झेले थे और उसके बाद समय पर झेलते आये है।

लेडीज क्लब की पात्र गज़ाला जो अमेरिका में पढ़ाई कर रही है वह हिंदुस्तान वापस नहीं आना चाहती लेकिन उसके पिताजी उसे समझा-बुझाकर ले आते हैं। वह आज़ाद जिंदगी जीना चाहती है। गज़ाला कहती है-“कितना कठिन होता है अपने आप से लड़ते हुए जीवन बिताना। औरतों की जिंदगी में मूक-बधीर की तरह हुकुम का पालन करना।”<sup>3</sup> आखिर मुस्लिम स्त्री को आज़ाद जिंदगी क्यों नहीं दी जाती।

एक आदमी की पहचान क्या होती है? उसका धर्म,

उसका पेशा या उसका हृदय? यह उपन्यास नायक यूनुस के माध्यम से यही सवाल हमारे सामने रखता है। यूनुस निम्नवर्गीय भारतीय मुस्लिम समाज का एक प्रतिनिधि चरित्र है। अपने बनने की प्रक्रिया में हमें अपनी स्मृतियों के साथ उस पूरे दृश्य से परिचित कराता है जिसमें सांप्रदायिक ताकतों की राष्ट्रीय राजनीति में घुलमिल जाने के बाद, आम भारत का गरीब मुस्लिम तबका गुज़र-बसर कर रहा है।

‘पहचान’ उपन्यास में इंसान को जीने के लिए जद्दोजहद करनी पड़ती है उसका चित्रण हमें देखने को मिलता है और जो आम मुसलमान लोग कुछ वजह न होते हुए सिर्फ मुसलमान होने की वजह से गुजरात के गोधरा हत्याकांड के सांप्रदायिक दंगों में मारे गए उसका भयंकर नरसंहार यहाँ हमें दिखाई देता है। इस सांप्रदायिक दंगों में सलीम की मौत हो जाती है उसका चित्रण इस प्रकार है-“जमात के लोग स्टेशन से अलग-अलग आँटो बुक कराकर अपने-अपने घरों को लौट रहे थे। सलीम दंगार्यों के बीच फंस गया था। सलीम को आँटो सहित जलाकर मार डाला गया।”<sup>4</sup>

इस तरह हमें हिंदी उपन्यास मुसलमान समाज के सच्चाई से वाकिफ़ कराते हैं और उनकी जीने की जद्दोजहद, उनके आर्थिक शोषण, पारिवारिक कलह इन सबको हमारे सामने सिद्धत और सच्चाई के साथ प्रस्तुत करते हैं। मुस्लिम समाज का समग्र चित्रण इन उपन्यासों में देखने को मिलता है।

जिस तरह से उपन्यास में समग्र मुस्लिम जीवन की अभिव्यक्त हुई उसी तरह कहानी विधा भी जीवन के अनेक संदर्भों को अभिव्यक्त करने में अपनी अहम भूमिका निभा रही है। आधुनिक युग में मुस्लिम जीवन और परिवेशगत संस्कृति भारतीय जीवन और संस्कृति का ही अभिन्न रूप बन गयी है। लिहाजा भारतीय सभ्यता और उनमें पल रही मुस्लिम संस्कृति दोनों एक ही परिवार के चेहरे की खूबसूरत आँखें हैं। वस्तुतः जहाँ भी कुछ तनाव और आपस की अनाप-शनाप को सुधारने के लिए हिंदी कथाकारों ने स्वतंत्रता के बाद के समय को, मुस्लिम परिवेश को भी अपनी कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। वे सभी कहानीकार निम्नवत् है। जैसे-मोहन राकेश, उपेंद्रनाथ ‘अशक’, भीष्म सहानी, कमलेश्वर, कृष्णा सोबती, पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’ आदि कहानीकारों ने इस समय को महत्त्व देते हुए कहानियाँ लिखकर हिंदू परिवेश के साथ-साथ मुस्लिम परिवेश को भी तराजू के पलड़े में रखकर सादृश्यता रखने का भाव पैदा किया।

हिंदी कहानी में ऐसे मुस्लिम कहानीकारों का भी आगमन हुआ है जिन्होंने अपनी कहानियों द्वारा स्वयं अपने वर्ग का चित्रण अपने कहानियों का उपजीव्य बनाया। इन कहानीकारों



में मेहरून्सिा परवेज़, नासिरा शर्मा, कुर्तुल-ऐन-हैदर, राही मासूम रज़ा, इब्राहिम शरीफ, शानी, बदीउज्जमां, अब्दुल बिस्मिल्लाह, नफीस आफरीदी, असगर वजाहत, मुशरफ आलम जौकी आदि जैसे कई नाम हैं।

एक ऐसी ही कहानीकार है नासिरा शर्मा जिन्होंने अपने कथा-साहित्य में मुस्लिम समाज की विशेष रूप से महिलाओं की जीने की जद्दोजहद को बड़े ही यथार्थपरक रूप से चित्रित करने का प्रयास किया है। उनके कहानियों में गरीबी, तंगहाली, भूख और बेरोजगारी से लाचार महिला चरित्रों की पीड़ा मन को झकझोर देती है। उनकी कहानियों के इन महिला चरित्रों का सारा ध्यान और प्रयास सिर्फ अपने और अपने परिवार के दो वक्त की रोटी के इंतजाम करने की दिशा में होता है। इससे परे उनके लिए कुछ सोचना नामुमकिन-सा जान पड़ता है। आमदनी का कोई निश्चित जरिया नहीं। बीड़ियाँ बनाना, पतंग बनाना, माँझे पर शीशा चढ़ाना, लिफाफे बनाना, आचार डालना, पापड़ बेलना, मामूली कढ़ाई-बुनाई जैसे हस्तकारी के कामों से आमदनी होती है। नासिरा शर्मा जी के 'पाँचवा बेटा' कहानी में अमतुल जो एक मुस्लिम महिला है, उसके मन की पीड़ा को चित्रित किया है। मोहरम के वक्त का चित्रण हमको कहानी में दिखाई देता है। अमतुल शबे, आशुदा असगर को भी जालिमों ने पानी नहीं दिया। हुसैन को धोके से बुलाया। यहाँ लेखिका कहती है कि पाँच बेटे होते हुए जो पाँचवा है। उसको भूलकर अमतुल चारों को याद कर रही है जो शहर की भीड़ में खो गए हैं। नासिरा जी कहती हैं-“भोली-भाली पोती को क्या पता कि हर चीज़ को बदलने का एक समय होता है। तभी तो अमतुल अपनी नादानी से शर्मिंदा हो पुराने गम से नया गम मिला रही है। जिनके चार लड़के शहर की भीड़ में खो गए हैं। उन्हें ढूँढ़ने में उसे होश ही न रहा कि पाँचवा बेटा पास में है। उसे समझाती। ....इन् आँसुओं को पोती न समझ सकती है। अभी उम्र ही क्या है।”<sup>5</sup> इसी प्रकार कृष्णा सोबती के 'सिक्का बदल गया' कहानी में भी हमको अमतुल की ही मातृत्व की झलक मिलती है। इसलिए नासिरा शर्मा स्वयं मानती हैं कि इंसान के अंदर पलती जिजीविषा मुझे सृजन के स्तर बाँधती है और जीने की यह छटपटाहट मुझे लिखने की प्रेरणा देती है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह ने 'आलिया धोबी और पावभर गोश्त' कहानी में मुस्लिम जाति में भी किस प्रकार ऊँच-नीच का भेदभाव है उसको रेखांकित किया है। निम्न जाति के धोबी द्वारा उच्चवर्गीय शेख, सैय्यद, पठान को शादी की दावत तो दी जाती है, किंतु वे लोग शादी में नहीं जाना चाहते। लईक आलम कहते हैं-“धोबी के यहाँ खाने तो न जाएंगे, हाँ उसे ऐसा ही शक है तो आदमी पीछे पाव-पावभर गोश्त हमारे घरों में भिजवा दें,

चाहे तो पाव-पावभर आटा-चावल भी भिजवा दें। उसे वहाँ पकवा लेंगे और दावतों की रस्म पूरी हो जाएगी। दहेज जाकर लिया आएंगे।”<sup>6</sup> आज भी हर धर्म में जाति-व्यवस्था मनुष्य पर किस प्रकार हावी है यहाँ हमको देखने को मिलता है।

प्रख्यात रचनाकार अमृतलाल नागर अपनी कहानी 'मोती की सात चलनियाँ' कहानी में हिंदू-मुस्लिमों के बीच की सांप्रदायिकता को समाप्त करने के लिए दोनों वर्गों के लड़के-लड़कियों के प्रेम विवाह का समर्थन करते हैं। इसलिए वे डॉ. सुरेंद्र के माध्यम से कहते हैं-“तब मानते क्या हो आखिर? यही की हम भारतीय है। इंसानियत के सिद्धांत, ईमानदारी, मेहनत, सच्चाई, दया, करुणा वगैरा जितना कोई भी कट्टर से कट्टर हिंदू या मुसलमान माने, उतना ही हम भी मानते हैं। बाकी क्रियाकर्म, जनेऊ, नौरात्र, मुहर्रम वगैरह पूजापाठ, धर्म-कर्म का पुराना बोझ हम क्यों लादें? इससे हमें क्या है?”<sup>7</sup> अमृतलाल जी को मानवता ही अधिक प्रिय हैं। वे धर्म कर्मकांड में विश्वास नहीं रखते हैं।

कृष्णा सोबती ने 'सिक्का बदल गया' कहानी में देश विभाजन और बँटवारे की चीज़ों और स्थितियों के संदर्भ में कथासार किया है। बँटवारे सिर्फ राष्ट्र का ही न होकर वह मनुष्य के मन का भी था। इसका सशक्त चित्रण हमको इस कहानी में दिखाई देता है। जिन लोगों के साथ वह माँ के जैसा व्यवहार करती थी वही उसे आज बेदखल कर रहे हैं। शाहनी ने कभी यह सोचा भी न होगा की तन्हाई भरा दर्द उसको देखना पड़ेगा। अब क्या हो सकता है, सिक्का बदल गया है। जब शाहनी उसका घर छोड़कर जा रही थी तब दिल दहलाने वाला दृश्य नज़र आता है-“देर हो रही थी। दाऊद खाँ जरा अकड़कर आगे आया और ड्योढ़ी पर खड़ी निर्जीव छाया को देखकर ढिठक गया वही शाहनी है जिसके शाहजी उसके लिए दरिया के किनारे खेमे लगवा दिया करते थे। यह तो वही शाहनी है जिसने उसकी माँगेतर को सोने के कर्णफूल दिये थे। मुँह दिखायी में। अभी उसी दिन वह जब 'लिंग' के सिलसिले में आया था तो उसने उदण्डता से कहा था शाहनी भागोवाली, मस्जिद बन रही है। तीन सौ रुपया देना पड़ेगा।”<sup>8</sup> इस कहानी में हमें अपने ही लोग किस तरह पराये होते हुए दिखाई देते हैं।

विभाजन के वक्त मुसलमान स्त्रियों का बहुत ही लाचार-सा जीवन देखने को मिलता है। वह पकौड़ियों और दहीबड़े को बेचकर जीवनयापन करती हैं। साथ में खुद के जिस्म की भी दुकानें उन्होंने सजाई है। यहाँ उनका लाचार, बेसहारा बनकर जीना हमको दिखाई देता है। कुदरतुल्लाह शहाब की कहानी 'या खुदा' में ऐसी ही एक बच्ची जुनेदा अपने भाई का और खुद का पेट पालने के लिए वह खुद का सौदा करती रहती है। वह

दिलशाद नामक स्त्री से कहती है-“बहन, थोड़ा इस ओर रखना, महमूद सो रहा है। मैं ख़ाँ के साथ जाकर थोड़ा दही ले आऊँ।”

इस तरह हमको कहानियों में लाचारी, मुफ़लिसी, मजबूरी, जातिगत भेदभाव, जीने की छपपटाहट देखने को मिलती है। व्यक्ति के मोहभंग, वर्तमान परिवेश में बदलते मानवीय संबंधों पर भी कहानी में प्रकाश डाला गया है। नयी कहानी एक ओर सामान्य व्यक्ति के दुःख-दर्द को व्यंजित करती है तो दूसरी ओर उसके जीवन के स्वप्नों के राख हो जाने के दर्द को भी प्रकट करती है।

विश्व स्तर का विचार करने पर मुसलमानों पर विचार करे तो मुसलमान के माथे पर विद्रोही और आतंकवादी का सिक्का मारा जा रहा है। धार्मिकता और सांप्रदायिकता में आज का मुसलमान पिरोया जा रहा है। परंतु भारतीय मुसलमानों को सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिप्रेक्ष्य ने देखने-समझने के कई दृष्टिकोण हैं। आज हर कोई अपने फायदे के लिए किसी और के घरों को जलाने का काम कर रहा है।

मुसलमानों की स्थिति और उनकी समस्याओं को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि पिछले पचास साल में सांप्रदायिकता तथा आतंकवाद के निर्बाद्ध गति से बढ़ने के

कारण क्या रहें हैं और उसे क्यों रोका नहीं जा सका? हिंदू सांप्रदायिक शक्तियों ने मुसलमानों के प्रति घृणा और हिंसा फैलाने को एक उद्योग में बदल दिया। जीवन के सभी क्षेत्रों में परोक्ष या प्रत्यक्ष तरीके से यह जहर समाज की नसों में लगातार भरा जा रहा है।

#### संदर्भ-

1. अनवर सुहैल, पहचान, पृ. 104
2. नमिता सिंह, लेडीज क्लब, पृ. 33
3. वही, पृ. 93
4. अनवर सुहैल, पहचान, पृ. 120
5. नासिरा शर्मा, नयी सदी की पहचान-पाँचवा बेटा, पृ. 81
6. डॉ. राम आहुजा, अतिथि देवों भव, पृ. 13
7. सांप्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ पृ. 35
8. नासिरा शर्मा, नयी सदी की पहचान-सिक्का बदल गया, पृ. 04
9. मुशर्रफ आलम जौकी, विभाजन की कहानियाँ, पृ. 60

**शोधार्थी हिन्दी विभाग, डॉ. बा. आं. म. वि. औरंगाबाद**

#### पृ. 20 का शेष भाग ....

‘जीवन की धूप छँव’ सन् 1981, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकर कृत ‘सत्य की खोज’, सन् 1985, स्वामी विधानन्द कृत ‘कुछ खट्टी मिठी यादें’ का प्रकाशन सन् 1988, सुधिष्ठिर मीमांषक कृत आत्मपरिचय सन् 1989-90 आदि लिखी गई।

अन्ततः कहा जा सकता है कि दयानन्द युग से लेकर सन् 1990 तक आर्य समाज सेवकों ने आत्मकथा-लेखन कार्य में विशिष्ट रुचि व्यक्त की। जिस कारण एक ओर पाठकों को उनके जीवनानुभवों से लाभान्वित होने का अवसर मिला। वहीं दूसरी ओर हिन्दी साहित्य की आत्मकथात्मक विधा विकास की ओर उन्मुख हुई। इस प्रकार हिन्दी साहित्यिक आत्मकथा के उद्भव और विकास में आर्य समाज सेवकों का महत्त्वपूर्ण योगदान सदैव चिरस्मरणीय रहेगा।

#### सन्दर्भ-

1. व्याख्याकार गणेश पायने, हॉफ एण्ड टेल-ए-स्टेडी इन द इन्टररिलेशन विट्विन ऑटोवायोग्राफी एण्ड हिस्ट्री, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, 1981, सं. प्र., पृ. 224 से उद्धृत
2. दयानन्द सरस्वती, आत्मकथा, आर्य साहित्य भवन,

गोहा, दिल्ली, 2012, पृ. 64

3. परमानंद, आप बीती, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 79
4. वही, पृ. 79
5. श्रद्धानन्द, कल्याण मार्ग का आर्थिक, डी. ए. बी. प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ. 12
6. बनारसीदास चतुर्वेदी, आत्मकथा रामप्रसाद विस्मिल, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली 1962, सं. द्वि., पृ. 10
7. लाजपत राय, मेरी आत्मकथा, संस्कार प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 44
8. नारायण स्वामी, आत्मकथा, आर्य साहित्य सदन, दिल्ली, शाहदरा, 1943, सं. प्र., (भूमिका से उद्धृत)
9. (सं.) कमला सांकृत्यायन, राहुल वाड्मय, जीवन यात्रा भाग-1, जिल्द-1, नई दिल्ली, 1989, पृ. 189
10. भवानी दयाल संन्यासी, प्रवासी की आत्मकथा, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1947, सं. प्रथम, पृ. 149
11. कमलेश सिंह, हिन्दी आत्मकथा स्वरूप एवं साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 169
12. विनीता अग्रवाल, हिन्दी आत्मकथाएँ सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 74

## ‘आछरी-माछरी’ में स्त्री संघर्ष का नाम आख्यान

अखिलेश कुमार

पितृसत्तात्मक समाज में एक स्त्री के संघर्ष का आख्यान प्रस्तुत करता हरिसुमन बिष्ट का उपन्यास ‘आछरी-माछरी’ पहाड़ी परिवेश के परंपराओं की शिकार बनी एक नारी के संघर्ष की गाथा है। स्त्री के व्यक्ति एवं व्यक्तित्व के साथ-साथ बौद्धिक विकास में पुरुष प्रायः खलनायक की भूमिका निभाते हैं। इसका ज्वलंत उदाहरण इस उपन्यास में देखा जा सकता है। आज हम 21वीं सदी में प्रवेश कर चुके हैं। सदियों से पुरुष जाल में फंसी स्त्री आज अपने संघर्ष एवं जिजीविषा के बल पर सारे बंधनों को तोड़कर पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने को बेताब है। स्त्री जीवन में संघर्ष की महत्ता उपन्यास की प्रमुख पात्र आछरी कुछ इस तरह व्यक्त है- “जिंदगी को सहजता से जीना कोई सफल होने की निशानी नहीं है। जब तक जीवन में संघर्षमय दाव-पेच नहीं आते तब तक जीवन के सही अर्थ का पता ही नहीं चलता।”<sup>1</sup> आछरी के यह विचार नारी के फूल से चिंगारी बनने की स्थिति को व्यक्त करते हैं।

स्त्रियों की महत्ता के संबंध में एक कहावत प्रसिद्ध है ‘बिन धरती घर भूत का डेरा’। अर्थात् स्त्रियाँ घर को घर बनाती हैं। व्यक्तिगत रूप से उन्हें फूल के समान कोयल, सुंदर एवं सुगंध युक्त माना जाता है। समाज के निर्माण में इनकी भूमिका को पुरुषों की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण नहीं माना जाता। इन सब विशेषताओं को रखते हुये भी सदियों से स्त्रियों के साथ दोगम दर्जे का व्यवहार किया जाता रहा है। हमेशा उन्हें उनके अधिकारों से वंचित करने का प्रयास किया जाता रहा है। परंतु अब समय बहुत तेज़ी से बदला है एवं शिक्षा-दीक्षा के कारण स्त्रियों में जागरूकता आई है आज वे फूल से चिंगारी बनने के लिए बेताब है, “स्त्री का फूल रूप उसे पुरुष से बड़ा बनाता है। रचना की प्रतीक है वह। यह भी सच है कि उसके इस रूप का सदियों से इस्तेमाल होता रहा। विकास में बाधाएँ डाली जाती रही। विकसित होने और बोलने का उपर्युक्त वातावरण नहीं मिला। अधिकार हिल गये। कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य करना पड़ा। शिक्षा से वंचित हो गई। नीति निर्धारकों में उसका प्रवेश नहीं हुआ और भी बहुत कुछ जो उसे दोगम दर्जे का नागरिक बनाए रहा। वह पुरुषों की पूरकता की भूमिका ये नहीं थी। ऐसी

स्थिति में उसका फूल से चिंगारी बनना आवश्यक हो उठा।”<sup>2</sup>

उपन्यासकार ने आछरी के फूल से चिंगारी बनने की कथा को बहुत ही रोचक ढंग से व्यक्त किया है। आछरी के समक्ष आने वाली अनेक समस्याओं एवं संघर्ष के पृष्ठभूमि में एक पुरुष ही रहता है। जिस पुरुष से स्त्रियाँ सुरक्षा की आशा करती है वही उनके जीवन में काटा बोता है। इसका ज्वलंत उदाहरण आछरी-माछरी उपन्यास है। आछरी भोटिया महाल में रहने वाली एक खानाबदोश जनजाति से संबंधित वीर सिंह की पुत्री है। सदियों में ये लोग हिमालय के पहाड़ों से उतरकर गुग्यालो में चले जाते हैं। उनके साथ हज़ारों भेड़ बकरियाँ एवं उनकी रक्षा के लिए कुछ शिकारी कुत्ते होते हैं। जंगली जड़ी बूटियों, वनस्पतियों तथा भेड़-बकरियों के साथ इसी तरह ये लोग अपना जीवनयापन करते रहते हैं। यही पर आछरी अनजाने में एक लड़के से यौन संबंध बना लेती है जिसके बारे में उसे अधिक जानकारी नहीं होती है। उसका गर्भ रुक जाता है। भोटिया महाल की परंपराओं, सामाजिक बंधनों एवं लोक लाज के डर से नाराज़ होकर आछरी के माता-पिता रात में सोते समय आछरी को कुछ भेड़ बकरियों एवं एक शिकारी कुत्ते के साथ छोड़कर बिना बताये पहाड़ों पर वापस चले जाते हैं। आछरी इन परिस्थितियों में एकाकी जीवन जीने को विवश है। उसका जीवन अंधकारमय हो गया है- “भगर उसे यह न मालूम या कि पहाड़ से उतरने के बाद उसका जीवन ठहर-सा जायेगा। ठहरा पानी अपने प्राकृतिक गुण छोड़कर सड़ांध मारने लगेगा। सोलहवें बसंत का आनंद उसे रास्ते से कहीं दूर ले जायेगा। जहाँ उसका न कोई साथी होगा न कोई मंज़िल ही होगी।”<sup>3</sup>

आछरी के जीवन को यह घटना उसके समक्ष नई चुनौतियाँ लेकर आती है। अब उसके जीवन में संघर्ष का आगाज़ होता है। गुग्याल में ही उसे एक बेटा पैदा होता है। परिस्थितिवश वह पहाड़ी पर बसे गाँव डूगरपुर में शरण लेती है। बाद में उसे मालूम होता है कि उसके जीवन में अशांति लाने वाला व्यक्ति तुलसावत इसी गाँव का प्रधान है। आछरी द्वारा पहचानने एवं उसको अपने बेटे का पिता बतलाने पर वह आछरी से इस बात का सबूत माँगता है। इस पर आछरी कुछ

इस तरह जवाब देती है, “औरत के पास कैसे सबूत हो सकता है भला। वह तो बहती नदी है कोई भी मर्द आये और गोता लगाकर चला जाये। पर एक बात पूछ तुलसापंत नौ माह जिसको मैं पेट में रखकर बोझ बनाकर ढोती रही वह क्या सबूत नहीं है।”<sup>4</sup>

भारतीय समाज में स्त्रियों के चरित्र का निर्णय पुरुषों द्वारा ही किया जाता है। भले ही वे कितने भी लंसट एवं दुराचारी क्यों न हो? “साधारणतया महान् दुराचारी पुरुष भी परम सती स्त्री के चरित्र का आलोचक ही नहीं न्यायकर्ता भी बना रहता है।”<sup>5</sup> आछरी तुलसापंत के सामने झुकती नहीं है बल्कि इन सब परिस्थितियों को वह चुनौती के रूप में स्वीकार करती है। वह अपने बेटे मोहना के साथ-साथ अपने अदम्य साहस एवं जिजीविषा के बल पर पूरे गाँव के लोगों विशेषकर औरतों के लिये प्रेरणास्रोत बन जाती है। सदियों से पुरुषों के पाँवों की जूतियों के समान जीवन व्यतीत करने वाली स्त्रियों में चेतना का नया संचार होता है। आछरी में उन्हें आशा की नई किरण दिखाई देती है। आछरी के उत्साह एवं कर्मठता को देखकर सभी स्त्रियों ने मिलकर पूरे गाँव का नेतृत्व उसे देने का विचार करती है तथा इसकी पहल स्वयं तुलसापंत की पत्नी एवं उसके घर की बहुएँ ही करती है। इस संबंध में तुलसापंत की बहू आछरी से कहती है-“सभी बहू बेटियाँ तुम्हें ही वोट देंगी। मेरी सास भी ऐसा चाहती है। तुम्हें किसी से कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है।”<sup>6</sup>

डूंगरपुर गाँव में औरतों के इस तरह संगठित होने का कारण पुरुषों द्वारा उन पर होने वाले अत्याचार है तथा उन्हें यह लगता है कि आछरी में वह शक्ति है जो उन्हें पुरुषों द्वारा किये जा रहे अत्याचारों से मुक्ति दिला सकती है। गाँव की औरतों की स्थिति आछरी के इस वक्तव्य से समझा जा सकता है-“इस गाँव में किसी भी औरत के बारे में जानने का कोई लाभ नहीं है। इनके जीवन में कब कैसा घटित हुआ भविष्य में क्या घटेगा उसका न कोई...न किसी तरह की भविष्यवाणी।”<sup>7</sup>

लोकतंत्र में महिलाओं के भागीदार बनने से उनको पुरुषों द्वारा होने वाले शोषण से मुक्ति का अवसर मिला है। गाँव ये प्रधान के पद हेतु महिला सीट निर्धारित होने के बाद गाँव की महिलाओं में देखा जाने वाला अत्याधिक उत्साह इसी का परिणाम है। इसीलिये तुलसापंत के घर से ही स्त्रियों को संगठित कर आछरी का गाँव का प्रधान बनवाने की बात की जा रही है-“तुलसापंत के घर की स्त्रियाँ भी घर की स्थिति से विरक्त हो चुकी हैं और परिवर्तन चाहती हैं। वे आछरी को तैयार करती हैं कि वो प्रधान के लिये परचा भरे और तुलसापंत का वर्चस्व समाप्त हो। यहाँ एक स्त्री के पास दूसरी और तीसरी

और चौथी स्त्री खड़ी हो जाती है। परिवार और स्वार्थ से परे।”<sup>8</sup> आछरी प्रधानी पद के लिये परचा भरती है तथा चुनाव में विजयी भी होती है। आछरी के इस जीत के पीछे गाँव की सभी स्त्रियों का अपने अधिकारों के प्रति संगठित होना रहा। “यहाँ कथाकार एक समाधान प्रस्तुत करता है कि अगर हर स्त्री अपने स्वार्थ से ऊपर होकर सिर्फ स्त्री के उत्थान के लिये सोचे तो परिवर्तन को रोका नहीं जा सकता और यही परिवर्तन डूंगरपुर गाँव में होता है। जब आछरी गाँव की प्रधान चुन ली जाती है तुलसापंत के तमाम विरोध के बावजूद।”<sup>9</sup> आछरी का गाँव का प्रधान चुना जाना गाँव की स्त्रियों में चेतना की एक लहर पैदा करता है तथा यह घटना इस अवधारणा का भी खंडन करती है कि सदैव पुरुष स्त्रियों से आगे चलते हैं तथा स्त्रियाँ पुरुष रूपी वैशाखी के सहारे ही आगे बढ़ती हैं। आछरी कहती है-“औरत भी क्या चीज़ है। कहते हैं, हनुमान को उनका बल याद दिलाना पड़ता था। मैं कहती हूँ-औरत को उसकी शक्ति का अहसास कराना आवश्यक है। वरना ये औरत नाम की जान सुबह आँख खुलने से लेकर रात में बिस्तर गरमाने तक सूखती रहती है। घर बाहर चूल्हा-चौका, गोठ-गोठान और गाड़-गधेरी से लेकर बच्चे जनने तक बिल्ली की भाँति दबे पाँव इधर-उधर होती रहती है।”<sup>10</sup>

विपरीत एवं कठिन परिस्थितियों में गाँव का प्रधान बनने के बाद आछरी अपने संघर्ष के दिनों को भूलती नहीं है। जीवन के छोटे से सहारे के माध्यम से आगे बढ़ने की सीख अपने बेटे मोहना को वह कुछ इस तरह देती है- “एक बात हमेशा जीवन में याद रखना जिस वृक्ष की जड़े पथरों पर होती है वह एक बार मिट्टी पकड़ लेने के बाद गहरी और गहरी होती जाती है। हमेशा चट्टानों पर उगे बट पीपल को देखो बेटे। उनसे जीवन जीना सीखो।”<sup>11</sup> आछरी की ये बातें उन स्त्रियों के लिये एक सीख है जो अपने को निरीह, असहाय, पराश्रित एवं सौंदर्य की देवी मान घरों में बैठी रहती हैं। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने स्त्री-विमर्श की महत्वपूर्ण अवधारणा जिसमें स्त्रियाँ सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता का निर्धारण अपने लिये अपने ढंग से करती हैं के निर्वहन का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। सीमोन की अपनी पुस्तक ‘द सेकेंड सेक्स’ में एक जगह लिखा है कि- “स्त्री अपने को स्त्री की नज़र से नहीं पुरुष की नज़र से देखती है और इसलिये वह पुरुषों की अधीनता में रहते हुये अपने तेज़ से परिचित नहीं हो पाती।”<sup>12</sup>

आज स्त्री को अपनी शक्ति को पहचानने की आवश्यकता है। उसे विपरीत परिस्थितियों में भी धैर्य एवं आत्मविश्वास से **शेष भाग पृ. 30 पर.....**

---

## प्रगतिशील कवि नागार्जुन और उनकी कविताओं में व्यंग्य

### कविता भदौरिया

प्रगति का साधारण अर्थ है- 'उन्नति करना' या 'आगे बढ़ना' किन्तु प्रगतिशील का प्रगति शब्द साधारण प्रगति या उन्नति का बोधक न होकर एक विशिष्ट ढंग से एक विशिष्ट दिशा में आगे बढ़ने या उन्नति करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य का उद्भव 1935 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ हुआ। इसकी स्थापना मुल्कराज आनंद और सज्जाद ज़हीर के प्रयत्न से हुई थी। नागार्जुन इसी प्रगतिशील धारा में अग्रणी स्थान रखते हैं। प्रगतिशील कविता के केन्द्र में समाज है इसलिये उसमें साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, अभिजात्य और शोषण करने वाली समस्त सत्ताओं-संस्थाओं का विरोध और शोषित, वंचित, उपेक्षित, मेहनतकश, किसान-मजदूर के प्रति गहरी सहानुभूति दिखाई देती है। यह समस्त तत्त्व नागार्जुन की कविता में सहज ही व्याप्त है।

साहित्यकार का समाज से सीधा संबंध होता है। वह अपनी युगीन परिस्थितियों को नकार नहीं सकता बल्कि उन परिस्थितियों के असंगत तत्त्वों से संघर्ष करता है। प्रगतिशील साहित्य हमेशा जनता के हित की वकालत करता है इसलिए वह तटस्थ होकर रह ही नहीं सकता उसे जनता के साथ खड़ा होना ही पड़ता है। रचनाकार में इतनी ताकत होती है कि वह अपने जमाने की चाल और दिशा को बदल सकता है। वैश्विक स्तर पर अगर हम दृष्टि डाले तो यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है।

भारतीय साहित्य भी अपने समय की चुनौतियों के साथ संघर्ष करता है। कबीर, रैदास, दादू ने अपनी रचनाओं के द्वारा अपने समय की विभिषिकाओं और विडम्बनाओं से मुकाबला किया। सूर, तुलसी, निराला, डॉ. रामविलास शर्मा, शिव मंगल सिंह सुमन, गिरिजा कुमार माथुर, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, नरेन्द्र शर्मा आदि नागार्जुन के समकालीन यह सभी रचनाकार अपनी रचनाओं के माध्यम से तथा पूरी ताकत से मानवता के विकास की मशाल रोशन की है और समय के अन्तर्द्वन्द्व को उजागर किया है। यह उनकी प्रगतिशीलता का ही परिचायक है। नागार्जुन ने प्रगतिशील कविता को उच्च शिखर तथा स्वर प्रदान किया है साथ उनके समकालीन कवियों ने उनका साथ बखूबी

निभाया है।

नागार्जुन की काव्याभूमि विपुल है और विषम भी। विषय इतनी की इस ऊँची-नीची भूमि में समतल की अभ्यस्त आँखें अक्सर धोखा खा जाती है। जो वस्तु औरों की संवेदना को अछूती छोड़ जाती है वही नागार्जुन के कवित्व की रचना-भूमि है। इस दृष्टि से काव्यात्मक साहस में नागार्जुन अप्रतिम है। समकालीन यथार्थ के वे रूप जिन्हें शिष्ट और सुरुचिपूर्ण कवि वीभत्स समझकर छोड़ देना उचित समझते हैं, नागार्जुन की साहसिक कल्पना से काव्य का रूप प्राप्त करते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में नौ सौ रसों के अन्तर्गत वीभत्स की भी गणना की गई है और खानापूरति के लिये थोड़ी बहुत वीभत्स रस की रचनाएँ भी हुई हैं किन्तु नागार्जुन पहले कवि हैं जिन्होंने सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ के वीभत्स को एक नई शक्ति प्रदान की है। नागार्जुन की रचनाओं में परिलक्षित व्यंग्य की सार्थकता ने रचनाओं को कालजयी बना दिया है-नागार्जुन की कविताओं की विशेषता है कि वह कलात्मक होने के साथ-साथ लोकप्रिय भी है। नागार्जुन स्वयं के प्रति इतने निर्मम हैं कि दूसरों के प्रति निर्मम होने का पूरा अधिकार रखते हैं और इसी कारण वह आज की व्यवस्था पर व्यंग्य करते हैं तथा उनकी रचित सभी रचनायें आज भी प्रासंगिक लगती हैं जिनमें सामाजिक, राजनीतिक यथार्थ दृष्टव्य होता है। नागार्जुन ने अपनी कविताओं में व्यंग्य को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है तथा बिगड़ते हालातों तथा विघटित मूल्यों पर करारा प्रहार भी किया है। "जयति नरवरंजनी" शीर्षक कविता के माध्यम से नागार्जुन ने आज के तथाकथित उन लोगों पर व्यंग्य किया है जो सामाजिक कर्तव्यों से ज्यादा स्वयं के प्रति सजग हैं। कविता में नागार्जुन ने दिल्ली की तीन स्त्रियों के माध्यम से आज भी सौन्दर्य प्रेम में पगी नारियों पर व्यंग्य किया है जो हाथों में काले निशान लगाने के डर से वोट देने जैसा आवश्यक कार्य नहीं करना चाहती। कविता में तीनों स्त्रियाँ चमचमाती कार से सुन्दर वस्त्रों को धारण किये हुये उतरती हैं जिनकी आभा धूप के कारण चम्पई प्रतीत हो रही है तथा हाथों के नाखून बड़े-बड़े हैं जिन पर सुर्ख नेल पॉलिस लगाकर तथा



कलाई पर महँगी घड़ी बाँधकर स्वयं को अत्याधुनिक प्रदर्षित कर रही है। मतदान देने पर लगाये जाने वाले काले-निशान से स्वयं का सौन्दर्य नष्ट होता जान बिना वोट दिये चली जाती है-“छिः कौन लगवाए काला निशान कौन लगवाए वैलट पेपर, मतदान कौन करें! क्षण भर ठिठक कर/ नई दिल्ली की तीनों परियाँ/मुड़ गई सहसा/ स्टार्ट हुई कार/ सहसा लोग हंसने लगे।”<sup>11</sup>

नागार्जुन की कविता ऐसे विभिन्न समकालीन प्रश्नों को उठाती है तथा अपने व्यंग्य के माध्यम से गहरा निशान छोड़ देती है। नागार्जुन की कविता “न आए रात भर मेल ट्रेन” में भी समकालीन यथार्थ दृष्टव्य होता है जहाँ रेलवे की स्थिति पर व्यंग्य प्रहार किया गया है। जनता समय से नियत स्थान पर पहुँचने हेतु स्टेशन पर पहुँच जाती है जहाँ समय-सारणी अपने निर्धारित समय से कुछ अलग समय दर्शाती है तथा जनता इस लापरवाही के चलते परेशान होती है परन्तु रेलवे प्रशासन कभी भी पूरा सही समय न बताकर आधा घंटा, डेढ़ घण्टा लेट की घोषणा करते रहते हैं बिना यह सोचे की जन सामान्य को भी इससे भारी असुविधा हो रही होगी। ऐसी स्थिति के चलते मनुष्य स्टेशन पर ही अपना समय बिताने को आबद्ध होता है तथा समय काटने हेतु बाध्य हो जाता है- “बैठे-बैठे मेल ट्रेन की प्रतीक्षा में/बाहर निकल आए है आँखों के डोरे/घंटा भर लेट/ आधा घंटा और लेट/पैंतालीस मिनट और लेट/आह रे विधाता क्या हुआ तुझे/कई बार चटकाई उगलियाँ /कई बार आई जैभाई/चाट गया अनेकों मैगजीनें/सुड़क आया हूँ सात कप चाय।”<sup>12</sup>

नागार्जुन ने बड़ी ही साहसिकता के साथ सामाजिक, राजनीतिक संदर्भों पर व्यंग्य किया है इसी साहसिक प्रतिभा की अमर सृष्टि है “मंत्र कविता” जो कलात्मक प्रयोग में भी अप्रतिम है। यदि निराला की ‘कुकुरमुत्ता’ सन् 50 की मनःस्थिति की ऐतिहासिक दस्तावेज है तो सन् 60 की मनःस्थिति को सशक्त वाणी नागार्जुन की ‘मंत्र कविता’ में ही मिलती है। कविता में कवि भ्रष्ट खोखली राजनीति पर व्यंग्य किया है तथा विडम्बना यह है कि ‘ओं हमेशा-हमेशा करेगा राज मेरा पोता’-यह उक्ति जैसे भविष्यवाणी की तरह सच होने को आ गई है। आज मानव एवं नैतिक मूल्यों का पतन होता जा रहा है कुर्सी संस्कृति का प्रभाव इतना अधिक हो गया है कि गांधी तथा तिलक के बताये आदर्शों को उपेक्षित समझा जा रहा है तथा व्यक्ति योग्य हो अथवा नहीं परन्तु राजनीति पर अधिकार जमाना परिवार की परम्परा सिद्ध हो रही है- “ओं रें ही वली हूँ आह/ओं हम चबायेगें तिलक और गांधी की टाँग/ओ बूढ़े की आँख, छोकरी का काजल/ओं तुलसीदल विल्वपत्र, चंदन, रोली, अक्षत,

गंगाजल/ओं शेर के दाँत, भालू के नाखून, मर्कट का फोता/ओं हमेशा-हमेशा करेगा राज पोत/ओं हूँ: हूँ: हूँ: फू: फू: फट, फिट, फुट/ओं शत्रुओं की छाती में लोहा कूट।”<sup>13</sup>

नागार्जुन का काव्यात्मक साहस बहुत ही अप्रतिम है उन्होंने समाज में घटित प्रत्येक समस्या तथा तत्त्वों के प्रति अपनी संवेदना व्यक्त की है। नागार्जुन ने कविता “पैने दाँतों वाली” में एक मादा सुअर का वर्णन किया है जो जमुना किनारे घास पर आराम से लेटी हुई अपने बच्चों को दूध पिला रही है। आमजन शायद इसे केवल एक कविता समझ ले परन्तु नागार्जुन ने यहां उन बेटियों स्त्रियों पर दृष्टिपात किया है जो ऐसा जीवन जीने पर विवश है परन्तु सहजता से जीती है-“जमना किनारे/मखमली दूबों पर/पूस की गुनगुनी धूप में/पसर कर लेटी है/भरे पूरे बारह थनोंवाली छौनों को पिला रही है दूध/नागार्जुन अपने खास अंदाज में कहते हैं: “यह भी तो मादरे हिंद की बेटी है।”<sup>14</sup>

नागार्जुन ने बड़ी ही सहजता से सुअर जैसे विषयों में भी अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया है। नागार्जुन ने प्रगतिशील कविता को पुष्पित, पल्लवित और विकसित किया। अपने समकालीन त्रिलोचन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल का साथ बखूबी निभाया। नागार्जुन ने अपनी कविताओं में व्यंग्य के माध्यम से बड़ी-बड़ी स्थितियों पर करारा प्रहार कर प्रगतिशीलता का परिचय दिया है। हास्य, करुण, कटुतापूर्ण, राजनीतिक, आर्थिक आदि विभिन्न रूपों में व्यंग्य करते हुये नागार्जुन ने अपनी प्रगतिशीलता तथा समकालीन यथार्थ बोध को बखूबी दर्शाया है। कटु यथार्थ से युक्त व्यंग्य की सबसे बड़ी जीत उसका सत्य है। ‘निराला’ के बाद हिन्दी कविता में इस तरह के कटु व्यंग्य का यथार्थ और मार्मिक चित्रण नागार्जुन ने ही किया है। ‘तुम रह जाते दस साल और’ शीर्षक कविता में नागार्जुन ने नेहरू जी की मृत्यु पर कटु यथार्थ से परिपूर्ण व्यंग्य किया है। नेहरू जैसे लोकप्रिय और महान् नेता की मृत्यु पर उनके शासनकाल में उत्पन्न विसंगतियों और भ्रष्टाचारों का चित्रण व्यंग्य के रूप में यह कविता बेजोड़ है- “झुकती स्वाराज्य की डाल और/तुम रह जाते दस साल और/गलती समता की दाल और/तुम रह जाते दस साल और/हम चावल लाते एक किलो/दस का दे जाते नोट अगर/यो सिकुड़े रहते/सपने में सिलवाते ऊनी कोट मगर।”<sup>15</sup>

नागार्जुन ने अपनी कविता ‘कल्पना के पुत्र हे भगवान’ में भी इसी कटु यथार्थ व्यंग्य को दर्शाया है। जहाँ वे ईश्वर से केवल जीवन सुलभता की दशा चाहता है-“कल्पना के पुत्र हे भगवान/चाहिये नहीं मुझको वरदान/दे सको तो दो मुझे अभिशाप/प्रिय मुझे है जलन, प्रिय मुझे संताप/चाहिये नहीं

मुझको यह शांति/चाहिये सदेह, उलझन, भ्रांति/रहूँ मैं दिन-रात ही बेचैन/आग बरसाते रहे ये नैन/”<sup>6</sup>

‘प्रतिबद्ध हूँ’ शीर्षक कविता में नागार्जुन ने विभिन्न राजनीतिक पार्टियों पर व्यंग्य किया है तथा यह बताने का प्रयास भी किया है कि हम चाहे या न चाहे परन्तु हमें इनसे जूझना ही पड़ता है-“प्रतिबद्ध हूँ/जी हाँ प्रतिबद्ध हूँ/बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त/संकुचित ‘स्व’ की आपा-धापी के निषेधार्थ.../अविवेकी भीड़ की ‘भेड़िया- धसान’ के खिलाफ/अंध-बधिर व्यक्तियों को सही राह बतलाने के लिये. .../अपने आप को भी ‘व्यामोह’ से बारंबार उबरने की खातिर. .../प्रतिबद्ध हूँ/जी हाँ शतधा प्रतिबद्ध हूँ/”<sup>7</sup> नागार्जुन के व्यंग्य काव्य की तृतीय विशेषता के रूप में ‘करुण व्यंग्य’ को भी देखा जा सकता है। इस तरह के व्यंग्य नागार्जुन की कविता में सर्वत्र विद्यमान है। नागार्जुन की ‘घिन तो नहीं आती’ शीर्षक कविता में पसीने से लतपथ और कलथई दांतों की मोती मुस्कान, बेतरतीब मूछों की चिखने वाली कुली-मतदूरों के ड्राम में किसी सफेदपोश अभिजात संस्कारों में पले व्यक्ति के बराबर बैठ जाने पर ‘जी तो नहीं कुढ़ता है ? घिन तो नहीं आती है ? पूछकर समूची करुणा को कवि ने व्यंग्य के माध्यम से उभारा है-“कुली मजदूर है/बोझ ढोते है, खींचते है ठेला/धूल-धुँआ-भाप से पड़ता है सबका/थके मादे, जहाँ-तहाँ, हो जाते है ढेर/सपने में भी सुनते है धरती की धड़कन/आकर ड्राम के अन्दर पिछले डिब्बे में/बैठ गये है इधर-उधर तुमसे सटकर/आपस में उनकी बतकही/सच-सच बतलाओ/नागवार तो नहीं लगती ? जी तो नहीं कुढ़ता है/घिन तो नहीं आती।”<sup>8</sup>

नागार्जुन ने प्रस्तुत कविता के माध्यम से अपनी करुणा को व्यक्त किया है। कवि ने बोझ ढोते हुये तथा ठेला खींचते हुए कुली मजदूरों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। ‘पसीने का गुण धर्म’ शीर्षक कविता में भी नागार्जुन ने अपनी प्रगतिशीलता को दर्शाया है। नागार्जुन ने रिक्शे वाले की दशा का करुण चित्रण इस कविता में किया है-“क्षार अम्ल/विगलनकारी दाहक/रोचक, उर्वरक/रिक्शेवाले की पीठ पर फटी बनियान/पसीने के अधिकांश गुण धर्म को/कर रही है प्रभावित/”<sup>9</sup> यहाँ नागार्जुन ने गरीब की करुण दशा का चित्रण किया है वहीं कविता ‘वो हमें चेतावनी दे आये थे’ में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि जब कभी व्यक्ति सत्य का साथ देना चाहता है तो किस प्रकार सामाजिक तथा राजनीतिक विसंगतियाँ उसके मार्ग में बाधक बनती है तथा इतना भयभीत कर देती है कि वह सपने में भी भयाकुल रहता है-“तेरे सारे ठौर ठिकाने/हमें मालूम हो चुके है/बोल क्या करे तेरा ?/अपना तो पसीना छूट रहा था..../घिग्घी बंध गई थी..../साँप सूँघ गया

था/”<sup>10</sup>

नागार्जुन ने राजनीति पर भी करारे व्यंग्य किये है। प्रत्यक्ष राजनीति की वामपंथी आन्दोलनों से सम्बद्ध नागार्जुन जनसाधारण से पूरी तरह सम्पृक्त है और सरल रूप सहज भाषा में व्यंग्य करते है। नागार्जुन का अधिकांश व्यंग्य वर्तमान सामाजिक व्यवस्था और शासन तथा सभ्यता को लक्ष्य कर लिये गये है। रामराज शीर्षक कविता में कवि ने आधुनिक शासन व्यवस्था और देश के आधुनिक राजनेताओं पर चुभता हुआ व्यंग्य किया है। महात्मा गांधी की रामराज्य की कल्पना सचमुच महान् थी। किन्तु उनके पश्चात् इस मछली कल्पना को पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं किया गया। यही कारण है कि नागार्जुन का आक्रोश अधिक बढ़ गया है, तभी तो उन्होंने कहा है- “लाज शर्म रह गई न बाकी गाँधी जी के चेलों में/फूल नहीं लाटियाँ बरसाती, रामराज की जेलों में/भैया लंदन ही पसन्द है आज़ादी की सीता को/नेहरू अब उमर गुजारेगें अंग्रेज़ी खेलों में/लाज शर्म रह गई न बाकी गाँधी जी के चेलों में।”<sup>11</sup>

नागार्जुन ने राजनीति पर हावी सामंती प्रवृत्तियों और उनके अधीन देश में रानी एलिजाबेथ के सम्मान में खर्च किये गये करोड़ों रुपये नागार्जुन की जनवादी चेतना को झकझोड़ डालता है। इस दृष्टि से नागार्जुन की दो कविताएँ अधिक प्रसिद्ध है-प्रथम कविता है-‘आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी’ और द्वितीय कविता है ‘टके की मुस्कान करोड़ों का खर्चा’। ये दोनों ही कविताएँ कवि ने रानी एलिजाबेथ के भारत आगमन के सम्बन्ध में लिखी है तथा अपनी प्रगतिशीलता का परिचय भी इसके माध्यम से दिया है-“आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी/यही हुई है राय जवाहरलाल की/रफू करेगें फटे-पुराने जाल की/यही हुई है राय जवाहरलाल की/आओ शादी बैण्ड बजाए/आओ बन्दरवार सजायें/खुसियों में डूबे उवरायें/आओ तुमको सैर करायें/उरकमण्ड की, शिमला-नैनीताल की/”<sup>12</sup> ‘टके की मुस्कान करोड़ों का खर्चा’ शीर्षक कविता में नागार्जुन ने शिकार के शौकीन महारानी एलिजाबेथ के महाराजा द्वारा किये गये शिकार को भी अपने व्यंग्य का विषय बनाया है जो उनकी निडरता तथा स्पष्टवादिता का द्योतक है- “बीत गई सर्दी, बीत गया माघ/रानी के खसम ने मारा है बाघ/टके की मुस्कान करोड़ों का खर्चा/इस ताम-झाम की कहाँ नहीं है चर्चा”<sup>13</sup> शिकार के मामूली व्यसन के लिये करोड़ों का खर्चा कर डालना भारत जैसे निर्धन एवं गरीब देश के लिये सचमुच में आश्चर्य और व्यंग्य का विषय है। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विडम्बनाओं से पूर्ण कविताएँ उनका व्यंग्य रूप आदि सभी नागार्जुन की प्रगतिशीलता तथा चेतनता का प्रतीक है। ‘तो फिर क्या हुआ’ शीर्षक कविता में कवि ने एक ऐसे सरकारी



बुद्धिजीवी अफसर का चित्र खींचा है जो स्वार्थी है और उसे मात्र वेतन से लगाव है इसके चलते बड़ी से बड़ी घटना भी उसके 'तकिया कलाम' 'तो फिर क्या हुआ ?' के नीचे दबकर रह जाती है- 'लेकर कॉफी की आखिरी छूट/मैंने कहा सहज शिष्ट स्वर में/तो फिर क्या हुआ/सिगारपाथी, कुसीघर, प्राचार्य बोले/हो गया गरीब का कैरियर चौपट/और आप पूछते है/तो फिर क्या हुआ ?'"<sup>14</sup>

नागार्जुन की सहानुभूति का पात्र जन-सामान्य है। जन सामान्य की विषय परिस्थितियों को कवि ने उनकी समस्त विकरालता के साथ प्रस्तुत किया है। व्यंग्य में ही नागार्जुन का असली रूप प्रकट होता है। कविता के प्रगतिशील यथार्थवादी युग में आकर नागार्जुन ने अवरूद्ध हो गई व्यंग्य परम्परा को फिर से जीवित किया है। जो आधुनिक हिन्दी कविता हेतु लाभप्रद सिद्ध हुई है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि व्यंग्य काव्य की दृष्टि से प्रगतिशीलवादी कवियों में नागार्जुन का स्थान सर्वोपरि है। नागार्जुन की व्यंग्य रचनाओं में कबीर सी तल्लू, भारतेन्दु की करुण और निराला की विनोद वक्रता का विलक्षण सामंजस्य है। अन्य व्यंग्यकारों से नागार्जुन की खास भिन्नता यह है कि जहाँ और लोग सोच-समझकर किसी रचना को व्यंग्य युक्त बनाते हैं, वहाँ नागार्जुन में व्यंग्य एक जन्मजात संस्कार के रूप

में है अथवा यों कहे कि चुभाना इनका स्वाभाव-सा है कि वह रोजमर्रा का बन गया है। नागार्जुन ने हिन्दी में श्रेष्ठ व्यंग्य रचना की स्वस्थ परंपरा स्थापित की है।

#### सन्दर्भ-

1. नागार्जुन-चुनी हुई रचनायें, पृ. 122-123
2. वही, पृ. 132
3. वही, पृ. 112
4. नागार्जुन-प्रतिनिधि रचनायें, भूमिका से
5. नागार्जुन-चुनी हुई रचनायें, पृ. 163-164
6. नागार्जुन-प्रतिनिधि रचनायें, पृ. 19
7. वही, पृ. 15
8. वही, पृ. 36
9. वही, पृ. 135
10. वही, पृ. 25
11. नागार्जुन-नागार्जुन की कविता में युगबोध, पृ. 92
12. नागार्जुन-प्रतिनिधि रचनायें, पृ. 101
13. नागार्जुन-प्यासी पथराई आँखें, पृ. 60
14. नागार्जुन-सतरंगे पंखों वाली, पृ. 39-40

**25/243, एफ-2, नत्थी का खेत, नया बाँस, लोहामण्डी, आगरा**

#### पृ. 26 का शेष भाग .....

काम लेने की आवश्यकता है। जिस प्रकार आछरी अपने आंतरिक शक्ति को जागृत करके अपने परिवार, गाँव समाज से बिछुड़ने के बाद भी अपने अदम्य साहस एवं जिजीविषा के बल पर एक अनजाने गाँव में अपनी अलग पहचान बनाती है तथा गाँव की समस्त स्त्रियों की प्रेरणास्रोत बनती है और सदियों से चले आ रहे पुरुष वर्चस्व को न केवल चुनौती देती है बल्कि समाप्त भी करती है।

इस प्रकार आछरी-माछरी उपन्यास स्त्रियों को परिवार एवं समाज में उचित एवं सम्मानित स्थान प्राप्त करने के लिये संगठित होकर संघर्ष करने की वकालत करता है। पितृसत्तात्मक, सत्ता के खिलाफ, सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ तथा अपनी वाह्य एवं आंतरिक परिस्थितियों के खिलाफ स्त्रियों में संघर्ष के जज़्बे को पैदा करने का सार्थक प्रयास है यह उपन्यास।

#### संदर्भ-

1. हरिसुमन बिष्ट, आछरी माछरी, भावना प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. 192

2. मृदुला सिन्हा, मात्र देह नहीं है औरत, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 50
3. आछरी माछरी, पृ. 16
4. वही, पृ. 26
5. अरविंद जैन, न्याय सेते अन्याय सेते, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 155
6. आछरी याछरी, पृ. 104
7. वही, पृ. 127
8. (सं.) एकांत श्रीवास्तव/कुसुम खेमानी, वागर्थ, अगस्त, 2012, रवींद्र कात्यायन का लेख, पृ. 108
9. वही, पृ. 108
10. आछरी माछरी, पृ. 251
11. वही, पृ. 253
12. समीक्षा (त्रैमासिक), अक्टूबर-दिसम्बर, 2010, पृ. 45

**लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ**

---

## मध्यकालीन नारी जीवन की पीड़ा की अभिव्यक्ति निष्कृति

प्रा. श्रीमती उषा पुंडलिक शिरोडे

कृष्णा अग्निहोत्री हिंदी की बोल्ले लेखिकाओं में गिनी जाती है। साहित्य की अन्य विधाओं में लेखनरत कृष्णाजी के साहित्य में नारी विमर्श केंद्र में रहा है। अभी तक उनके लगभग एक दर्जन से अधिक उपन्यास तथा अठारह के आसपास कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपका साहित्य हमेशा बहस के केंद्र में रहा। आपका कथा साहित्य स्त्री जीवन की त्रासदी और धड़कनों से जुड़ा हुआ है। “लेखक ही मेरा भाई, बहन, प्रियतम, दोस्त और पति भी है।” कहने वाली कृष्णा जी की लेखकीय निष्ठा अटूट है।

‘निष्कृति’ कृष्णाजी की 1987 में पंचशील प्रकाशन जयपुर से प्रकाशित औपन्यासिक कृति है। लेखिका ने 107 पृष्ठों में लिखे अपने निष्कृति उपन्यास में नारी विमर्श को स्वर दिया है। ऐतिहासिक चित्रफलक पर मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था जो नारी स्वतंत्र की सदा विरोधी रही को कृष्णा अग्निहोत्री द्वारा लिखित लघु उपन्यास ‘निष्कृति’ में उकेरा गया है। लेखिका ने दर्शाया है कि किस प्रकार भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों के बढ़ते मेल-जोल का सुखात्मक-दुखात्मक प्रभाव व्यापक रूप से जन चेतना पर पड़ा। जोधाबाई तथा मीराबाई की संवेदना का तथा राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्तरों पर विभाजित देश की स्थिति का अंकन कृष्णा जी ने निष्कृति में किया है। मुगलों से अनेक बार हुए युद्धों के कारण जन-धन की अपार हानि ने सामाजिक जीवन की शांति छीन ली। जिसका दुष्प्रभाव सामाजिक चेतना पर पड़ा।

जोधबाई के विवाह ने राजपूती शान को मानो पंखुड़ी धार से काट डाला। धर्म, राजनीतिक, परिवार की परंपराओं के समक्ष नारी की भावनाओं की, उसके व्यक्तित्व की कोई कीमत नहीं। सदा पुरुष के संकेतों पर चलना ही उसकी मानो नियति हो। जोधाबाई हो या मीराबाई इन्हें अपना जीवन जीने का कोई अधिकार नहीं, मीराबाई को धर्म अपनाने का अधिकार नहीं था। मीराबाई को यदि रुढ़िग्रस्त परंपराओं की व्यथा सहते हुए तिल-तिल कर जीना पड़ा तो जोधाबाई का जीवन ही जौहर था। लेखिका ने नारी की इस त्रासदी को उपन्यास में बखूबी चित्रित किया। कृष्णा जी ने एक ओर लीक पर चलती बरेसिल उबाऊँ

जिंदगी जीने वाली जोधाबाई के जीवन को उकेरा तो दूसरी ओर मीरा की ऊबती जिंदगी की बुझती उम्मीदों को मुखरित किया है। जहाँ जोधाबाई के पास हालात बदलने की एक उम्मीद थी वहाँ मीरा के पास सामाजिक परंपराओं के कई दंश और डरावना सूनापन था। उपन्यास की भूमिका में कृष्णा जी ने लिखा है कि-“निष्कृति मध्यकालीन ऐतिहासिक लघु उपन्यास है।” इसके सभी प्रमुख पात्र अपने अतीत वस्त्रों में नई आत्मा के साथ प्रविष्ट हुए हैं।

अतः राज्य की इतिहास प्रसिद्ध इन स्त्रियों की विवशता और छटपटाहट का अहसास कराती कथा-व्यथा है- ‘निष्कृति’। जिसे इतिहास के झरोखे से देखा-लेखिका ने।

### जोधबाई

‘निष्कृति’ उपन्यास की प्रथम नारी पात्र है जोधाबाई जो आमेर के राजा भारमल की कन्या है। मध्यकाल में अकबर का शक्ति प्रवाह बढ़ रहा था राजाओं को परास्त करके वह अपना साम्राज्य बढ़ा रहा था। राजा भारमल ने अपनी इस कन्या को अकबर को समर्पित कर अकबर से वैवाहिक मैत्री स्थापित की। राजस्थान की पावन धरती में जहाँ शौर्य, स्वाभिमान एवं निडरता रही वहाँ नारी को सदा भोग्या ही माना गया है। लड़की होना दुख की बात रही और यदि पैदा हो भी गई तो उसे चारपाई के पाये के नीचे कुचला गया। यदि न कुचला गया तो जीवनभर दूसरों की तानाशाही के पाये के नीचे कुचला जीवन जीना पड़ता रहा।

उसे न प्रेम करने का अधिकार...न धर्म अपनाने का अधिकार...ना ही अपना जीवन जीने का उत्साह। ऐसी स्थितियों में भी अपनी छाप इतिहास के पन्नों पर बिखरने वाली नारी है। जोधाबाई। जोधाबाई के सामने अकबर के साथ विवाहबद्ध होने का प्रस्ताव रख उसके पिता उससे कहते हैं कि-“बेटी हमारी राजपूतानियाँ सदा से ही जौहर की अभ्यस्त रही है, पैदा होते ही उन्हें जीवन दान की गुंटी में त्याग का पानी मिलाकर दिया जाता है।” जोधाबाई समझ गई कि “आपसी घरानों में पारस्परिक मैत्री, संबंध स्थापित करने के लिए नारी देह ही तो

उपयोग का रास्ता, सुलभ माध्यम है।” अतः राज्य को तबाही से बचाने के लिए जोधा ने अकबर से शादी का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकारा।

जोधाबाई सादगी से जीवन बिताने लगी। कृष्ण भक्त जोधाबाई दुःखी हो फूट-फूट कर रोती और कहती “कर ली स्त्री का जीवन कभी परिवार के लिए, कभी समाज के लिए और कभी देश के लिए खटता है। उसका अपना भाग कुछ भी नहीं, जिसे देखने, सहेजने व सम्भालने में वह अपने को धन्य माने, खुश हो सके।”

उस समय की रानियों की हालत देख जोधा अनमने स्वर में कहती है-“बादशाह नारी जाति को खिलौना व मन बहलाने का साधन मानते हैं और ऐसा कोई भी व्यक्ति अपने खिलौने नहीं तोड़ता है क्योंकि उनसे तो मोह होता ही है न।” इसी तर्क की और दृष्टिगत कर जोधा अकबर से लड़ने की बजाय, उनका प्रेम पाने का इंतजार करती रही। प्रथम मुलाकात में ही अकबर जोधा से कहते “राजपूतों में ब्याह करना राजनीति है...परंतु तुमसे जुड़े रहने का अहसास केवल प्रेम-नीति ही है तुम यदि अति साधारण स्त्री होती है तो मैं तुम्हें राजनीति के मंच की सौगात मान भूल भी जाता, परंतु एक अच्छी पत्नी में जिन गुणों की आवश्यकता है उससे मैं बेखबर रह ही नहीं सकता।”

जन्माष्टमी के त्यौहार पर कदली मीठे स्वर में गाती है-“अप्राप्ति परित्यक्त संप्रति समतां गतः ॥ अदृष्टखेदारखेदो यः संतुष्ट हति कथ्यते ॥”

अर्थात् जो अप्राप्य वस्तु की इच्छा नहीं करता, प्राप्य वस्तु के प्रति समत्व की भावना रखता है तथा सुख और दुःख को नहीं देखता, वह संतुष्ट कहलाता है।

जोधा धानी रंग के परिधान में सुंदर लग रही थी। अकबर के पास जाते ही जोधा ने घने बालों से बना जूड़ा खोल अपना मौन केश अकबर को समर्पित कर दिया। अकबर पर मोहित जोधा के सामने जब अकबर कदली का हाथ पकड़ता तो वह नंगी तलवार खींच लेती। अकबर से पूछा कि क्या तुम मुझसे तलवार बाजी करोगी, तब उसने कहा पति की हरकत देख वह आत्महत्या कर लेगी। क्योंकि पत्नी केवल वासना तृप्ति का साधन नहीं है। इससे जोधाबाई का महान् चरित्र दृष्टिगोचर होता है।

जोधाबाई सलीम को जन्म देने के पश्चात् कहने लगी कि “वह सलीम को केवल राजा नहीं अपितु इंसान बनाना चाहती हूँ। सलीम वतन परस्त हो न कि मतलब परस्त वह सच्चा राजा हो...भेदभाव न बरते, न्याय परस्त प्रजा का प्रिय हो, वह एक सुखद विश्वव्यापी साम्राज्य बनाएँ जहाँ सांप्रदायिकता, असुरक्षा व अशांति न हों।” जोधाबाई का वह सपना सपना

ही रह जाता है क्योंकि सलीम अंगुरी बेगम के कारण बिगड़ने लगा। सलीम के बिगड़े स्वरूप को देख जोधाबाई अस्वस्थ रहने लगी। जोधाबाई को अस्वस्थ देख तानसेन मीरा का भजन उन्हें सुनाता है। जोधाबाई दिन-ब-दिन सलीम के कर्तव्य को देख नाराज़ रहने लगी और अकबर से कहती-“महाराज...मैं तो ग्लानि में गल रही हूँ, हिंदुओं में माँ का रूप वंदनीय है क्योंकि वह बच्चों को परिवार...समाज व राज्य के लिए एक नेक इंसान और ऊँचा नागरिक बनाती है। परंतु मेरे जीने का उद्देश्य असफल रहा। मैं क्या बना पाई सलीम को?” अकबर जोधाबाई से कहते “जोधा अपने आप को मत कोसों।” तब जोधाबाई कहती है क्यों न कोसू! क्या रचनात्मक, व्यवहारिक योगदान है मेरा? क्या आपको युद्ध से रोक सकी? या अब सलीम को हमेशा विनाशकारी परिस्थितियों से बचा सकती हूँ मैं? मैंने सलीम को बनाना चाहा परंतु बना बनाया साम्राज्य उसे लालची बनाता गया।”

औलाद के भयावह कुर्म कोई भी माँ बर्दाश्त नहीं कर सकती। मरने से पूर्व सलीम को पास बुलाकर भरपूर ममता से जोधाबाई ने कहा “बेटा दूसरों के अनुभवों से ही सबक सीखना समझदारी है। सामाजिक, पारिवारिक एवं राष्ट्रीय युद्धों से केवल खोखलापन ही उभरता है अपनी आंतरिक आत्मा की सच्ची आवाज़ से युद्ध मत करना। अत्याधिक महत्वकांक्षाओं से जितनी सावधानी से निष्कृति मिले उतनी ही अधिक शांति प्राप्त होती है।” सलीम ने माँ के हाथ पर पश्चाताप के चंद आँसू गिरा दिये तभी इस मायावी दुनिया से जोधाबाई ने अहिस्ते से ‘निष्कृति’ प्राप्त कर ली।”

### उपेक्षित नारी मीराबाई

‘निष्कृति’ उपन्यास की उपेक्षित नारी मीरा ने अपने समय की रूढ़िग्रस्त परंपराओं में जी कर भी अपने व्यक्तित्व को अपनी विचारधाराओं से निखारा है। धर्म, राजनीति, परिवार, समाज नारी पात्रों को सदा से ही अपने इशारों और संकेतों पर चलाने के आदी है। राजस्थान की पावन धरती में जहाँ शौर्य, स्वाभिमान एवं निडरता रही वहाँ नारी को सदा भोग्य ही माना गया। क्षत्राणिया लड़ मरी, जौहर में जल गईं लेकिन उन्हें भी सीमित धारणाओं व पुरुष के अधीन रह अपना अस्तित्व उनके संकेतों पर निखारना पड़ा। उसे न प्रेम का अधिकार...न धर्म अपनाने का अधिकार...न ही अपना जीवन जीने का उत्साह। ऐसे वातावरण में मीरा का काव्यमय व्यक्तित्व स्वाभाविक ही विवाद का विषय रहा। मीरा पर अरसे से लेखिका का इतना अधिक ध्यान केंद्रित हो गया की मीरा उन्हें मानवी बनकर समान दिखने लगी। लौकिक प्रेम से अलौकिक की ओर जाती

मीरा कृष्णा अग्निहोत्री जी ने निष्कृति उपन्यास के लिए प्रेरणा बन गई।

मीरा बचपन से ही दादा की पूजा और मंदिर से बहुत प्रभावित थी। बचपन में वह पुजारी के बेटे को कृष्ण बनाती और स्वयं राधा बन नृत्य करती। घर पर आए संतों और ब्राह्मणों का अतिथ्य भार उन पर ही सौंपा जाता था। मीरा के पिता ने कृष्णलीला पर पाबंदी लगाई तो ज्योतिष बोले कि “मीरा एक आलौकिक कन्या है उसे ना सताए। मीरा की शादी की बात चलने पर मीरा ने अपने सखा से पूछा था कि वह तो कृष्ण से प्यार करती है, तब उसकी शादी तो कृष्ण के साथ होनी चाहिए। मीरा खेल-खेल में ही कृष्ण से शादी कर लेती और कहती ‘जाके सिर मोर मुकुट मेरों पति सोई’ राजपूत माता-पिता के प्रति मीरा के विचार “उनकी महत्वाकांक्षाओं के और नीतियों की शतरंज के हम प्यादे है। केवल उनके संकेत व संरक्षण के अधिकारी तनिक विरोध भी उनसे हमारा सहा नहीं जाता...हमारे जन्मदाता हमें विषपान तक करवाने में संकोच न कर सकते। तब जोधा बहन हमारी नियति ही है। कभी समाज का...तो कभी परिवार का दिया विष हमें पीना पड़ता।”

मीरा बचपन से सुनती आई की वह औरत है उसे अपनी सोच, अपनी मानसिकता रखने का कोई अधिकार नहीं। लेकिन बचपन में ही मीरा ने निश्चय किया कि “मैं अपना जीवन अपनी स्वेच्छा से बनाऊंगी। राजपूती मरदानगी के गलत घोषणा पत्र पर कभी सहर्ष दस्तखत नहीं करूंगी।” मीरा का विवाह भोजराज से तय किया। इस नन्हीं बालिका में उस समय क्रांतिकारी घोषणा करने की शक्ति नहीं थी कि वह कृष्ण की मूर्ति के साथ रहे। लड़की होने के कारण उसकी इच्छा-अनिच्छा की किसी को चिंता नहीं थी। डोली के साथ कृष्ण की मूर्ति नहीं गई।

प्रथम मिलन में मीरा ने भोजराज को बताया था कि राजाजी आपको तो दो पत्निया है मुझे तो सिर्फ एक पति गोपाल कृष्ण है। बालिका वधु का ममत्व उन्हें चुभा नहीं। मीरा की वाक्य पटुता, तर्क और आत्मविश्वास से वे इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने मीरा को कृष्ण भक्ति करने से मना नहीं किया। शराब पीकर भोजराज ने मीरा के साथ प्रथम रात्रि जो बलात्कार किया उसे मीरा भूली नहीं। रति सुख की यह अनुभूमि मीरा को कटु व असह्य लगी। भोजराज के बुलाते ही मीरा ठण्डी और निर्जीव बन जाती। सोलह वर्ष की मीरा का सौंदर्य अब निखरने लगा। मीरा के व्यक्तित्व और वैयक्तिक कार्यों में कुछ ऐसा मनोहारी सौंदर्य था कि वह जनप्रिय हो गयी। भोजराज को जलंधर रोग था, उसे पता था कि वह बचेगा नहीं। उसे अपनी

बालिका वधु की चिंता थी। लेकिन मीरा को कोई डर नहीं था। उसने अपना सब कुछ कृष्णार्पण किया था अर्थात् रक्षा का भार भी मीरा ने भगवान कृष्ण पर ही डाला था।

पति भोजराज की मृत्यु के उपरांत मीरा को सती बन जाने का आग्रह किया तब उसने जवाब दिया-“मनुष्य का जन्म-मरण ईश्वर की इच्छा से चलता और समाप्त होता है। यदि पत्नी के मरने पर पति जीवित नहीं जलता तो पत्नी क्या जलेगी? वह बुरी सती प्रथा पर करारा तमाचा था। उसके तर्क से ससुराल वाले मीरा के हिंसात्मक हो उठे। मीरा को इतना सताया कि उसको राज परिवार छोड़ना पड़ा। विधवा मीरा का ना मायके का सहारा मिला ना ससुराल का तब वह कहती-“भेरे तो गिरिधर गोपाल, दुसरो न कोऊ/माता-पिता तात-वधु ओर न कोऊ।।”

मध्ययुग की नारी की स्थिति की चर्चा जोधाबाई के साथ करते मीरा कहती है कि-इस भारतीय समाज की किसी भी पुस्तक में नारी के स्वतंत्र चिंतन का महत्त्व नहीं, अन्यथा भरे-पूरे परिवार की मीरा केवल भक्ति को अपनाने के कारण बेघर न होती” मीरा धीरे-धीरे निडर बन रही थी। एक संत ने मीरा से कहा ‘ईश्वर ने उसके साथ समागत करने की आज्ञा दी है।’ संत के बीच पलंग बिछाकर मीरा ने कहा ‘निसंक रस पीजिए’ तब साधु ग्लानि से सफेद पड़ गया।

वल्लभ संप्रदाय वाले भी मीरा का द्वेष करते थे। कृष्णराज ने जब मीरा से भेंट लेने के लिए नकारा तब मीरा ने पूछा क्या तुम्हारे संप्रदाय में भक्त का अपमान करना सिखाया जाता है तब कृष्णदास लज्जित हुए। मीराबाई के व्यवहार में न कृत्रिमता थी न कल्पना का जोश। मीरा ने परदा प्रथा को टुकराकर, जाँति-पाँति का भेद त्यागा और सादा रहन-सहन अपना लिया। मीरा भक्ति में लीन होकर, साधुओं के पास बैठ तालियाँ बजा-बजाकर नृत्य करती तो विक्रम की माँ एतराज करती तो मीरा कहती “आप नारी होकर नारी की दुश्मन हो, स्त्री के प्रति प्रेमभाव नहीं रखती।”

नारियों का मुँह न देखने वाले जीव गोस्वामी को फटकारते मीरा कहती-“नारी से क्यों डरते है? क्या आपको स्वयं के संयम व संतुलन पर अविश्वास है? भक्त केवल भक्त है, उसे लिंग भेद की सीमित दृष्टि से देखने के कारण आप अभी तक उबर नहीं पाए? यह सुन जीवगोस्वामी ने अपना व्रत तोड़ दिया। उन्होंने मीरा से कहा-“तुम्हारी प्रेम पीड़ा स्वाभाविक है। प्रेम ही ईश्वर, प्रेम ही कल्याण, प्रेम ही सर्वोच्च सत्य है। परंतु यह समाज तुम्हारे प्रेम आधार की लौकिक पीड़ा को घृणा व तिरस्कार ही देता रहेगा।”

**शेष भाग पृ. 39 पर....**

---

## आधुनिक युग के शैक्षिक क्षेत्र में भारतीय नारी के आदर्श

एन. मोहना

नारी शील, राष्ट्रीय रक्षा तथा कर्तव्य की खान है। जहाँ स्त्रियों को उचित स्थान दिया जाता है तथा उनकी शिक्षा का भी उचित प्रबंध किया जाता है, वही देश उन्नति कर सकते हैं। राष्ट्र में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उन्हें सम्मानित जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाने का साधन शिक्षा ही है जिससे वह समाज में आदर्श प्राप्त कर सकती हैं। शिक्षा के द्वारा नारी अपने आपको भावी जीवन के लिए सम्बद्ध करता है तो दूसरी ओर शिक्षा के माध्यम से वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की प्रतिस्थापना की जाती है।

### शिक्षा का स्वरूप

शिक्षा पद की निष्पत्ति शिक्षा धातु से होती है। इसका अर्थ यह है कि विद्या को प्राप्त करना। प्राचीन आचार्यों ने शिक्षा के अन्तर्गत चरित्र निर्माण को बहुत अधिक महत्त्व दिया था। संस्कृत में सूक्ति है- “विद्या ददाति विनियम्”। इसका अभिप्राय है कि शिक्षा को प्राप्त करके विद्यार्थी का चरित्र शुद्ध और पवित्र हो जाना चाहिए।

### आदर्श स्त्री

भरण का आरंभिक स्थिति एक सूक्ष्म बिंदु मात्र होती है। माता की चेतना और काया उसमें प्रवेश परिपक्व बनने की स्थिति तक पहुँचाती है। असमर्थ-अविकसित स्थिति में माता ही एक अवलंबन होती हैं, जो स्तनपान करती और पग-पग पर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। वेदमाता, देवमाता व विश्वमाता के रूप में जिस त्रिपदा की पूजा-अर्चना की जाती है, प्रत्यक्षतः उसे नारी ही कहा जा सकता है। इसलिए स्त्री शिक्षा बहुत आवश्यक है।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का कथन है-“पारिवारिक गाड़ी के सुसंचालन में स्त्री-पुरुष दो पहिए के स्वरूप हैं। अतः पारस्परिक समझ पैदा करने और उत्तरदायित्व निभाने की दृष्टि से स्त्री-पुरुष दोनों को शिक्षित होना आवश्यक है। एक पहिया के विपरीत स्थिति में रहने के कारण दाम्पत्य रूपी गाड़ी का सुसंचालन सुविधाजनक और शांतिपूर्ण ढंग से नहीं हो सकेगा।”<sup>1</sup>

माता का कलेवर और संस्कार बालक बनकर इस संसार में प्रवेश पाता और प्रगति की दिशा में कदम बढ़ाता है। वह मानुषी दीख पड़ते हुए भी वस्तुतः देवी है। उसके नाम के साथ प्रायः देवी शब्द जुड़ा भी रहता है। श्रेष्ठ एवं वरिष्ठ उसी का मानना चाहिए। भाव-संवेदना धर्म-धारणा और सेवा-साधना के रूप में उसी की वरिष्ठता को चरितार्थ होते देखा जाता है। उसके रोम-रोम में कृतज्ञता, श्रद्धा और आराधना की भाव उमड़ते रहना चाहिए। इस कामधेनु का जो जितना अनुग्रह प्राप्त कर सकने में सफल हुआ है उसने उसी अनुपात में प्रतिभा, संपदा, समर्थता और प्रगतिशीलता जैसे वरदानों से अपने को लाभान्वित किया है। नारी प्रेम, स्नेह, करुणा एवं मातृत्व की प्रतिमूर्ति है।

### विद्या की अवधारणा

विद्या पद की निष्पत्ति विद् धातु से होती है। इसका अर्थ है - ज्ञान प्राप्त करना। अतः विद्या पद के अर्थ हैं ज्ञान, विज्ञान, अध्ययन, शिक्षण, दर्शन, कला, शिक्षा और शास्त्र, साहित्य आदि। मनुष्य की प्रतिभा और बुद्धि विद्या पर ही निर्भर है। मनु ने विद्याध्ययन के संबंध में योग्य उपदेश दिया है- “जहाँ धर्म और अर्थ न हो, जहाँ सेवा की भावना न हो, वहाँ विद्या का प्रवचन नहीं करना चाहिए। यह ऐसा ही है, जैसा कि ऊसर खेत में उत्तम बीज बोना। ब्रह्मचारी अध्यापक चाहे विद्या के साथ मर जावे और घोर आपत्ति का समय हो, तो भी अयोग्य को विद्या न देवे। विद्या ने ब्राह्मण के पास आकर कहा कि मैं तुम्हारी निधि हूँ। तुम मेरी रक्षा करो। ईर्ष्यालु व्यक्ति को मुझे मत दो। इससे मेरी शक्ति में वृद्धि होगी। जिसको तुम पवित्र समझो, नियम पालन करने वाला ब्रह्मचारी समझो, उसी को मुझे दो। प्रमाद से रहित व्यक्ति ही मेरी रक्षा कर सकता है।”<sup>2</sup> शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के मन को मुक्त करना है, न कि उसे बाँधे हुए चौखटों में बन्द करना है। उसके शारीरिक और बौद्धिक श्रम में सन्तुलन बनाना है ताकि उसका जीवन सर्वांगीण विकास कर सके।<sup>3</sup> - जवाहरलाल नेहरू

## नारी शिक्षा की आवश्यकता

पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर देश के विकास में भारतीय नारी ने बराबर भाग लेती हुए रूढ़िवादी जीवन को तिलांजलि देकर नवयुग का आह्वान किया। शिक्षा के क्षेत्र भी इसमें शामिल है। ब्रह्मचर्य-व्रत से सम्पन्न शिक्षित कन्या को ही गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त था। महिला के शिक्षित होने पर उसके पूरे परिवार को शिक्षा का लाभ मिलता है। शिक्षा, प्रकाश का वह स्रोत है जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमारा सच्चा पथ-प्रदर्शन करती है। शिक्षा को मनुष्य का तीसरा नेत्र कहा गया है। इससे ही जीवन में सफलता को प्राप्त करता है। “ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है। उससे मनुष्य सभी तत्त्वों के अर्थों को देखने में समर्थ हो जाता है। उसके सभी विघ्न दूर हो जाते हैं। तीनों लोकों में उसकी सभी प्रवृत्तियाँ सही दिशा में होती हैं।”<sup>4</sup>

शिक्षा से ही स्त्री के बल, बुद्धि, धैर्य, कार्यक्षमता और चिन्तनशक्ति में वृद्धि होती है। शिक्षा से परिष्कृत, विकसित और परिपक्व बुद्धि ही स्त्री का बल है। शिक्षा स्त्री को इस लोक में तो सफल बनाती ही है, मृत्यु के बाद मोक्ष भी प्राप्त कराती है।

## नारी शिक्षा का महत्त्व

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग स्त्री शिक्षा का महत्त्व इस प्रकार बताया है कि स्त्री शिक्षा के बिना लोग शिक्षित नहीं हो सकते। महिलाओं के प्रारंभिक और व्यावसायिक शिक्षा के प्रति जागरूकता पैदा करनी चाहिए। स्त्री पृथ्वी की कल्पलता है। महात्मा गाँधी ने भारतीय नारी के आदर्श के विषय में कहा है - “नारी त्याग की मूर्ति है। जब वह कोई चीज़ शुद्ध व सही भावना से करती है, तब पहाड़ों को भी हिला देती है। मैंने स्त्री को सेवा और त्याग की भावना का अवतार मानकर उसकी पूजा की है।”<sup>5</sup>

शिक्षा के अभाव में महिलाओं की जीवन अनियन्त्रित होकर बिना पतवार की नाव के समान संसार सागर में डोलता रहता है। “विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी यदि व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि का विकास और आत्म-ज्योति की उपलब्धि नहीं हुई है तो वह व्यक्ति मूर्ख ही है क्योंकि क्रियावान् अर्थात् व्यावहारिक ज्ञान से युक्त व्यक्ति ही सच्चे अर्थों में शिक्षित है।”<sup>6</sup>

स्त्री के लिए शिक्षा प्रकाश का वह स्रोत है जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमारा सच्चा पथ-प्रदर्शन करती है। नारी के लिए शिक्षा प्रमुख साधन है। यदि भावी-जीवन की आधारशिला ही गंभीर तो उस पर जो भवन खड़ा होगा वह स्थायी रहेगा।

आज की शिक्षित नारी समय और शिक्षा दोनों के महत्त्व को जानती है। शिक्षा से ही आज प्रत्येक क्षेत्र में नारी की सक्रिय भूमिका देश के निर्माण में लगी है। वर्तमान समय में नारियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश कर चुकी हैं। आज की नारी ने अपनी शक्ति को पहचाना है। आज की साबित किया है। नारी ने अपनी शक्ति को पहचाना है।

आजकल महिलाएँ शिक्षा के माध्यम से अपनी स्थिति को बदलने की पुरजोर कोशिश में लगी हैं। नारी के लिए तो जन्म लेने से मृत्यु तक इसी सफर को तय करना होता है। शिक्षा के क्षेत्र भी इसमें अधूरा नहीं है। उसके लिए हर दिन, हर पल, हर समय, हर साल, हर उम्र के बढ़ते इस दौर में भी परीक्षा की कठिन घड़ी होती है। जिससे मुकाबला करके उसे हर कदम आगे ही आगे चलना होता है और हर परीक्षा को पार करके अपने जीवन की यात्रा को समाप्त, परिवार में सार्थक बनाना होता है। स्त्री-शिक्षा की वर्तमान स्थिति में पूरा सुधार हुआ है। नारी दुनिया के कोने-कोने में घटित होने वाली घटनाओं का ज्ञान रखती हैं वह अपने जीवन जीने के तरीके में भी आमूल परिवर्तन लाने के लिए उत्सुक हैं। इसके साथ ही उसका सारा ध्यान राष्ट्र के नव-निर्माण की ओर भी लगा है। इस प्रकार समय के परिवर्तन के साथ शिक्षा जैसे सशक्त माध्यम से आज की नारी स्वयं सशक्त बनकर विभिन्न व्यवसायों एवं सेवाओं से जुड़ती जा रही है।

## संदर्भ-

1. भारतीय शिक्षा प्रणाली, निशा द्विवेदी, डॉ. गोपाल कृष्ण शेवड़े, पृ. 68
2. काणे, पांडुरंग वामन: धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 250
3. भारतीय महापुराणों के शिक्षाप्रद विचार, डॉ. हरिवंश अनेजा, पृ. 145, अनुरोध प्रकाशन, नई दिल्ली
4. प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति, कृष्ण कुमार, पृ. 4
5. आधुनिक हिन्दी निबन्ध, डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ. 305
6. वैदिक शिक्षा मीमांसा, डॉ. भास्कर मिश्र, पृ. 29

**शोधार्थिनी, हिन्दी, अविनाशिलिंगम विश्वविद्यालय, कोयम्बतूर, तमिलनाडू**



## आदिवासी जीवन का यथार्थ : 'जंगल जहाँ शुरू होता है'

प्रा. बालाजी बलीराम गरड

21वीं सदी के इस वर्तमान दौर में जिन हिंदी कथाकारों ने हिंदी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया है। उनमें संजीव का नाम श्रेष्ठ कथाकार के रूप में लिया जाता है। उन्होंने अपनी प्रतिभा से हिंदी उपन्यास साहित्य को समृद्ध बनाने का काम किया है। उनके उपन्यासों का प्रमुख विषय आदिवासियों के जीवन संघर्ष और शोषण का चित्रण करना ही रहा है। संजीव ने आज तक किसनगढ़ के अहेरी, सर्कस, सावधान नीचे आग है, धार, पाँव तले की दूब, जंगल जहाँ शुरू होता है, सूत्रधार आदि उपन्यास हैं।

संजीव का 'जंगल जहाँ शुरू होता है' यह 2000 में प्रकाशित एक उल्लेखनीय उपन्यास है। जिसमें लेखक ने चंपारण जिले के 'मिनी चंबल' कहलाए जाने वाले, थारू आदिवासी जनजाति और डाकुओं की समस्या को केंद्र बनाकर कथानक को प्रस्तुत किया है। लेखक ने उपन्यास में चंपारण क्षेत्र के उस अंचल से जुड़ी हुई विभिन्न विसंगतियों को प्रकाश में लाने का काम किया है। लेखक ने थारू जनजाति के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक यथार्थ को सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है। उपन्यास में थारू जनजाति के जीवन संघर्ष, शोषण और उनकी समस्याओं को उजागर किया है। सरकार द्वारा इस क्षेत्र में 'डाकू-निर्भूलन' अभियान शुरू किया जाता है परंतु सरकार और अभियान चलाने वाले थारू लोगों की डाकू बनने की मजबूरी के बारे में विचार नहीं करते। राजनेता चुनाव के अवसर पर इन्हीं डाकुओं को शस्त्र बनाकर चुनाव जीतते हैं तत्पश्चात् उन्हीं डाकुओं को मार डालते हैं। उपन्यास में थारू जनजाति के साथ, धाँगड़, दुसाध, नोनिया आदि आदिवासियों का विवेचन मिलता है। उपन्यास का मुख्य उद्देश्य इन जनजातियों के जीवन का यथार्थ और विसंगति का चित्रण करना है।

### सामाजिक यथार्थ

#### 1. अंधविश्वास और मान्यताएँ

उपन्यास में चित्रित थारू जनजाति के बीच एक ऐसी मान्यता है कि साँप काटने पर उसका जहर उतारने के लिए वे

ओझा पर विश्वास करते हैं। साँप के काटने से लड़की मर जाती है फिर भी उन लोगों का विश्वास है कि ओझा के द्वारा मंत्र पठन करने से लड़की जिंदा हो सकती है इसलिए वे उसे अस्पताल में ले जाने के बजाय ओझा के पास ले जाते हैं। जब कुमार बताता है कि लड़की मर गई है तो माता-पिता दोनों रोते रहते हैं। थारू लोगों की यह मान्यता होती है कि साँप काटने की वजह से जिसकी मौत हो जाती है। उन्हें न तो जलाया जा सकता है ना ही दफनाया जाता। इस संदर्भ में वहाँ के बड़े-बर्जुग कहते हैं-“साँप की डँसी थी दुलारी धीया। न जलाई जा सकती थी, न गाड़ी। बड़े-बूढ़ें जो कहते हैं, वही करना होता है। बनकटा गाँव के बड़े-बूढ़ों की राय है कि लाश को परवाह प्रवाहित कर दिया जाय। कई बार तो गंगा मइया खुद है खींच लेती है विष और मुर्दा जी उठता है।”<sup>1</sup>

यहाँ पर थारू लोगों की अंधश्रद्धा को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। बिसराम तथा उसकी पत्नी अपनी बेटी खोने के गम में बहुत दुखी हो जाते हैं। तीन साल की मरी हुई बेटी का क्रिया कर्म करने के लिए उनके पास पैसे नहीं होते। इस विधि के लिए अपना एकमात्र बचा गहना भी बेच देती है। जिसके कारण शुद्धी की रस्में पूरी हो जाती है। उपन्यास के थारू लोगों की भगवान के प्रति होने वाली श्रद्धा को स्पष्ट किया है-ओझा मंत्र पढ़ता है। पूजा के लिए चूनर, मुर्गा और गाँजे का चढ़ावा दिया जाता है। ओझा नीम के चँवर से बिसराम के परिवार के साथ सबको झाड़ता है। बिसराम की बहू के साथ-साथ कोई औरतें खेलने अभुवाने लगती हैं। थारू लोगों का मानना है कि गाय का दूध नहीं पीना और हिरन का मांस कभी नहीं खाना। हिरन का मांस खाने से हैजा हो जाता है। बिसराम की पत्नी ने हिरन का मांस खाया है तो वे लोग समझते हैं कि यह तो बड़ा ही अनर्थ हो गया। इस तरह थारू समाज अंधश्रद्धा मूलक मान्यताओं का प्रचलन चित्रित हुआ है।

#### 2. जातिभेद तथा छुआछूत

उपन्यास का प्रमुख पात्र काली पांडेपुर गाँव में काम के



लिए जाता है। यह गाँव सिर्फ ब्राह्मणों का गाँव है। वहाँ उसे छुआछूत तथा जातिभेद आदि समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जातिभेद को स्पष्ट करते हुए लेखक लिखते हैं कि-“हुआ यह कि अँगना बुहारते हुए फेंकन बहू ने अँगन के बरतनों को उठाकर माँजने वाली जगह पर रख दिया था। इस बात पर पहाड़न एकदम आपे से बाहर हो गई, जैसे अनर्थ हो गया हो। उनकी राजरानियाँ जैसी काया फुफकार रही थी, अरे तेरा हिम्मत कैसे हुआ रे बाभन का बरतन छूने को....।”<sup>2</sup>

इस घटना के पश्चात् फेंकन माँफी माँगते हुए कहता है कि पत्नी पट्टी-लिखी होने के कारण वह जातिभेद तथा छुआछूत आदि बातों को मानती नहीं है। इसीलिए वह इन सब बातों का विरोध करती है। इस तरह उपन्यास में जातिप्रथा और छुआछूत का वर्णन हुआ है।

### 3. नारी शोषण

विवेच्य उपन्यास में नारी के शोषण और अत्याचार की समस्या को उठाने का प्रयास हुआ है। एक दिन सुंदर पांडे की पत्नी अपने भाई से फेंकन की पत्नी पर अत्याचार करवाती है और पंचायत में यह स्पष्ट किया जाता है कि “पांडे या उनके साले ऊँची जात के आदमी फेंकन बहू जैसी नीच जाति के साथ यह कर्म कर ही नहीं सकते।”<sup>3</sup> यहाँ पर देखा जाता है कि छोटे लोगों पर अन्याय करने के बावजूद भी उन्हें सज़ा नहीं होती क्योंकि वे बड़े लोग हैं।

उपन्यास के अंतर्गत नारी शोषण पुलिस के द्वारा तथा डाकुओं के द्वारा भी किया गया। थारू जनजातियों की औरतें देखने में बहुत सुंदर होती हैं। मलारी के साथ पुलिस भी अत्याचार करते हैं। हथियार की तलाशी के लिए पुलिस आते हैं लेकिन मलारी की खूब पिटाई की जाती है इस संदर्भ में संजीव लिखते हैं कि-“प्रेम प्रकाश उसी तरह झोंटा पकड़े हुए उसे घसीटकर ले गया घर में। पुलिस के जवानों ने पहले ही सर्च के चलते घर को तहस-नहस कर रखा था। चारों ओर दरिद्रता का आलम था, कथरी, गुदड़ी, लूंगे, लत्ते, सूप, चलनी, मकई की छितराई बालें अरगनी पर से गिरी फटी रजाई।”<sup>4</sup> इस तरह से तलाशी के नाम पर मलारी का पूरा घर बरबाद करते हैं। पुलिस के अत्याचारों से डरकर पूरा गाँव कहीं अन्य इलाकों में गायब हो जाता है। इस तरह उपन्यास में चित्रित नारी हमेशा शोषण और अत्याचार का शिकार बनती आयी है।

### धार्मिक यथार्थ

लेखक ने उपन्यास के अंतर्गत डाकुओं तथा थारू लोगों की धार्मिक मान्यताओं का भी परिचय दिया है। डाकु ब्राह्मण

की हत्या करना पाप समझते हैं इसीलिए भरत शर्मा का अपहरण करने के बावजूद भी उसकी सेवा परेमा डाकु करता रहता है। इस सेवा भाव को देखते हुए भरत शर्मा कहते हैं-“खुश रहो बेटा! जय हो। दसों दिशा में जस फैले! खुशामद में पिलपिले हो रहे हैं, खूब न सोए बेटा। अँगरेजी दवाई और आयुर्वेद दूनों न चल रहा है। लगता है, ओह जनम में तुम हमरे बेटा थे। एतना सेवा तो घरवोवाला कभी नहीं किया।”<sup>5</sup> डाकु होने के बावजूद पूजा-पाठ करने के लिए नहाना आवश्यक मानता है ब्राह्मण अपनी जान बचाने के लिए उसे गायत्री मंत्र सीखना चाहता है लेकिन वह बिना नहाए मंत्र पाठ करने से साफ इंकार करता है।

सोमेश्वर का प्रसिद्ध मंदिर थारूओं का है। इस संदर्भ में संजीव लिखते हैं कि-“यह सोमेश्वर का प्रसिद्ध मंदिर थारूओं का। ऊँचाई 2000 फीट और इस चोटी की ऊँचाई 2884 फीट। वो देखिए, यहाँ से नेपाल के वे गाँव कितने नन्हें-नन्हें दिख रहे हैं।”<sup>6</sup> साथ ही इस क्षेत्र के संबंध में और थारू लोगों के संदर्भ में कई कहानियाँ विवेच्य उपन्यास के अंतर्गत प्रस्तुत हैं। डाकु आत्मशुद्धी के लिए पूजा-पाठ करते हैं। उनका मानना है कि भगवान के नाम पर ‘ओम नमः शिवाय’ के साथ बेलपत्र अर्पण करने से उनके पाप मुक्ति हो सकती है। इसीलिए सभी डाकु इस पूजा में शामिल हो जाते हैं।

### आर्थिक उत्पीड़न और शोषण

उपन्यास में सावरकर लोग आम लोगों का किस तरह शोषण करते हैं। इस बात का परिचय बिसराम तथा उसकी पत्नी के द्वारा अपनी बेटी के खोने के बाद मरी हुई बेटी का क्रिया कर्म करने के लिए एक मात्र बचा गहना बेच देने से होता है। जिसके कारण शुद्धी की रस्म तो पूरी हो जाती है परंतु बेटी के मरने के पश्चात् तीसरे दिन से ही खाना मिलना मुश्किल हो जाता है। इस संदर्भ में लेखक लिखते हैं कि “तीसरा दिन था और घर में एकदाना तक नहीं। ये धान के बीज बोने डालने के दिन है मगर कहाँ के बीज और कहाँ का खेत? बीज होते भी तो क्या होता? खेत तो बंधक पड़े हैं मालिका के यहाँ। सोचा था, भैसे गाभिन है इसे बेंचकर जुगाड़ कर लेंगे, कुछ काली के पैसे बकाए है नहर के ठेकेदार के पास। फिर भी कम पड़ा तो गाय बेच देगे और इधर, उधर से उधार ले लेंगे। मगर कुछ भी नहीं हो पाया अभी तक कुछ भी नहीं। मालिकार से मुकदमा चल रहा है-पूरे एक बीघे धनहर खेत कब्जिया लिए है उन्होंने।”<sup>7</sup> इस संदर्भ से स्पष्ट होता है की साहूकारों द्वारा आम लोगों का निरंतर शोषण होता है। काली दिन-रात काम करता है। परंतु ठेकेदार उसने किए कामों के पैसे नहीं देता है। वह अपने घर

के हालात को लेकर काफी चिंतित हो जाता है। काली गरीबी से बेबस होकर इधर-उधर घूमता रहता है। गरीबी के कारण दो वक्त की रोटी भी मुनासिब नहीं होती। वह भात के माँड में नमक मिलाकर बच्ची को पिलाता है और स्वयं भी पी जाता है। लेखक उनके हालात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-“काढ़ा छानकर भउजी को देते हुए आँखें नहीं मिला पा रहा है वह, दवा के नाम पर नीम-तुलसी-गुड़ का काढ़ा। नहीं, यहाँ अधिक देर तक नहीं टिका जाएगा उससे। कमीज पहनते हुए कहता है, तुम और भइया निकालकर खा लेना।”<sup>8</sup> ठेकेदार जब काली के मेहनत के पैसे भी नहीं देते तो वह सोचता है कि हक की कमाई माँगने पर ठेकेदार के पास पैसे नहीं हैं लेकिन डाकुओं के देने के लिए पंद्रह हज़ार है। अमीर लोगों के छोटे बच्चे को भी ‘अल्लाफ साहब’ के नाम से संबोधित करना पड़ता है। यह सारी बातें काली को बेचैन करने लगती हैं और इसी हालात में वह अपने मित्र नरैना (नारायण सिंह निषाद) से मिलकर अल्लाफ का अपहरण कर लेता है। उसी अपहरण के तहत वह अपने डाकू जीवन की शुरुआत करता है। काली अपने इस जीवन को न चाहते हुए भी स्वीकार कर लेता है। घर की गरीब परिस्थिति, बड़े ठेकेदारों से होने वाला शोषण आदि से क्रोधित होकर वह अंत में डाकू बनने के लिए विवश हो जाता है।

### राजनीतिक यथार्थ

‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ उपन्यास में लेखक ने राजनीतिक विद्रुपता का चित्रण करते हुए कुर्सी बचाने के लिए प्रयासरत राजनेता एवं मंत्रियों को व्यंग्य और कटाक्ष का भरपूर निशाना बनाया है। डाकुओं का समर्थन पाने के लिए राज्य के मुख्यमंत्री डाकू-उन्मूलन अभियान के सर्वाधिक सक्रिय एवं सफल अफसर कुमार को सार्वजनिक रूप से अपमानित करने में भी नहीं चूकते-‘एक ठो खाकी वर्दी का मिल गया, आपका दिमाग चढ़ गया..एँ। अरे, आप का चीज़ है, जनता के सेवक-ए न? आपको को चीज़ का पावर मिला हुआ है-जनता जनारदन का रच्छा करने का कि उसको बर्बाद करने का? लेखक क्षुब्ध है कि समस्या का समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक पहलुओं को नज़रअंदाज करने वाले राजनीतिज्ञों के लिए डाकू औजार मात्र हैं-पोसना और फेंकना दोनों ही आसान। इसलिए परेमा की मृत्यु एक दुर्दांत डाकू का अंत न बनकर आपसी रंजिशों का परिणाम बन जाती है। ‘मलाल इस बात का था कि सरकार जब चाहती, तभी ऐसा कर सकती थी। मगर उसने उसे तब मारा जब चुनाव में उसने इनके प्रतिद्वंद्वी का साथ दिया। आज अगर दूसरी पार्टी जीती होती तो परशुराम मारा जाता और परेमा पुरस्कृत होता। तो क्या डाकुओं का अभ्युदय, संरक्षण

और सशक्तिकरण वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था की आंतरिक माँग है? क्या डाकू उन्मूलन संभव नहीं क्योंकि ‘डाकुओं’ की शिनाख्त आसान नहीं? क्या वक्त अंतिम पड़ाव पर खड़ा है-यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं।

डाकुओं और राजनीतिज्ञों के एकमेक हो जाने के इस बिंदु में समूचा प्रशासन तंत्र भी शामिल है जो इन्हें संरक्षण देकर अपने पैरों तले की जमीन पुख्ता करता आया है। पुलिस की दिलचस्पी सिर्फ उन डाकुओं को पकड़ने में है जिनके सिर पर कम से कम पचास हज़ार रुपये का इनाम है, वरना कागजी कार्यवाही के लिए झूठे एंकाउंटर्स में निर्दोष ग्रामीणों की हत्या का वीभत्स आयोजन तो है ही; जो मंत्री जी की सवारी के निमित्त लहू घोड़ा बनने और तांत्रिक जी के चरणों में लेटने के लिए मात्र इसलिए तैयार हैं कि राष्ट्रपति मेडल पाकर सारी खुदगर्जियाँ ढॉप सकें। पूरी व्यवस्था, प्रशासन और सत्ता का चेहरा एक है, इसलिए बेहतरीन पुलिस सेवा के लिए कुमार के बदले पांडेय जी नामजद किए जाते हैं, इसीलिए पुलिस डाकुओं के खिलाफ डाकुओं से आंतरिक जनता का अपने प्रति विश्वास नहीं जीत पाती। इस तरह राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था को लेखक ने बेनकाब किया है।

संजीव ने प्रस्तुत उपन्यास में थारू जनजाति के सामाजिक जीवन के यथार्थ का अंकन करते हुए उनकी अंधश्रद्धापरक मान्यताओं को रेखांकित किया है। जो मान्यता उनके विकास और शिक्षा से दूर रहने का ही परिणाम है। उस समाज में आर्थिक उत्पीड़न और शोषण के कारण समाज के सभी घटक बच्चे, अबालवृद्ध, महिलाएँ और पुरुष भी साहूकारों और पुलिस के अत्याचार का शिकार बनते हैं। यही शोषण और अत्याचार थारू समुदाय के काली जैसे व्यक्ति को डाकू बनने के लिए मजबूर करता है। डाकू गरीब लोगों की सहायता करते हैं। शादी के समय पैसे देकर उनकी सहायता करते हैं। शायद इसी वजह से थारू लोग डाकुओं की सहायता करते हैं उनके लिए खाना बनाकर ले जाते हैं। थारू लोग डाकुओं के प्रति एकनिष्ठ रहते हैं पुलिस के पकड़े जाने पर भी सच बोलने के लिए कतराते हैं। बड़े लोग चुनाव के दिनों में इन डाकुओं की सहायता से चुनाव जीत जाते हैं। अपना काम हो जाने पर उनसे बातें करना भी उचित नहीं समझते हैं। पुलिस काली की पूछताछ करने के बहाने उसके भाई बिसराम को बिना गुनाह किए नाहक में मार देते हैं और अंत में उसका इंकाउंटर किया जाता है। इन्हीं डाकुओं से छुटकारा पाने के लिए सरकार द्वारा डाकू-निर्मूलन अभियान चलाया जाता है। यह अभियान भी पुलिस और प्रशासन के अन्याय, अत्याचार के कारण थारू लोगों के लिए दर्दनाक दास्तान बनकर रह जाता है।

लेखक ने उपन्यास में समाज में व्याप्त जाति प्रथा, धार्मिक विश्वास, नारी शोषण जैसी समस्याओं पर प्रकाश डाला है। जो थारू जनजाति का उनके वास्तविक जीवन का चित्रण प्रस्तुत करता है। आदिवासियों के विकास के नाम पर राजनेता और प्रशासन द्वारा उनका छल और लूट की जाती है। रक्षा के बजाए प्रशासन और पुलिस आदिवासियों का शोषण ही करती है। थारू जनजाति के इसी पीड़ा का और प्रशासन के विसंगतिपूर्ण रवैये का उपन्यासकार पर्दाफाश करता है। लेखक ने उपन्यास में जंगल के हावी हो जाने की कथा को बयान किया है। इस कथा में सभी कुछ जंगल नहीं है, वह भी है जो जंगल को शोभा देता है। यही वह तत्त्व है जो इस उपन्यास को पठनीय बनाता है। लेखक ने प्रस्तुत कथा में आदिवासियों के विवशतापूर्ण, संघर्षशील जीवन का यथार्थ चित्रण किया है।

जिसे पढ़कर पाठक सोचने के लिए विवश हो जाता है।

#### संदर्भ :

1. संजीव, जंगल जहाँ से शुरू होता है, पृ. 22
2. वही, पृ. 90
3. वही, पृ. 92
4. वही, पृ. 196
5. वही, पृ. 78
6. वही, पृ. 111
7. वही, पृ. 22-23
8. वही, पृ. 83

माउली महाविद्यालय, वडाळा, ता. उत्तर सोलापुर, जि. सोलापुर

#### पृ. 33 का शेष भाग ....

बंधन शारीरिक होते हैं- आत्मिक नहीं, कहने वाली मीरा बाद में कृष्ण भक्ति में इतनी तल्लीन होने लगी की उसे अपने शरीर का होश ही नहीं रहता था। वह कई घण्टे मंदिरों में पड़ी रहती थी। ससुराल वाले आरोप लगाते मीरा के किसी साधु के साथ संबंध है। नारी होने के कारण मीरा को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। मीरा को शंकालु ससुराल वालों ने चरणामृत के रूप में विषप्रश्न करने का दिया। मीरा ने उसे चरणामृत ही समझा उसमें कृष्ण के चरणों पर चढ़े फूल डाल पी लिया। विष अमृत बना। मीरा को मारने के लिए राणा ने पिटारी में साँप भेजा परंतु वह बिना उसे काटे ही चला गया-“साँप पिटारी राणाजी भेज्यो/हसं-हसं कंठ लगायो, यो तो म्हारे नौसर हार।”

अपने ही लोगों से सताई जाने वाली मीरा त्रस्त मीरा सागर में छलाग लगाकर आत्महत्या करने ही वाली थी कि रूप गोस्वामी ने उसे रोका और कहा कि अपने सिद्धांतों के लिए लड़ने वाली मीरा कायर कहलायेगी। उन्होंने मीरा को आज्ञातवास में रहकर शेष जीवन बिताने की सलाह दी।

सारे समाज की ओर से उपेक्षा मिलने पर भी मीरा ने एक दारुण आह छोड़ी और धरती के सीने पर नारी स्वतंत्रता के आह्वान गीत गुनगुनाती हुई अज्ञात दिशा की ओर चल पड़ी। उस मध्ययुग में नारी स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने वाली मीरा आज भी अमर है-“कोमल है, कमजोर नहीं तू, शक्ति का नाम ही नारी है।/सबको जीवन देने वाली/मौत भी तुझसे हारी है।”

अतः ‘निष्कृति’ उपन्यास का अध्ययन, अनुशीलन के बाद हम कह पाते हैं कि, मध्यकालीन स्त्रियाँ जोधाबाई तथा मीराबाई की संवेदना, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्तरों पर विभाजित देश की स्थिति का अंकन उपन्यास में किया गया है। राजस्थान की इतिहास प्रसिद्ध इन दोनों स्त्रियों की विवशता और छटपटाहट का एहसास कराती ‘निष्कृति’ उपन्यास में कृष्णा अग्निहोत्री।

#### सहायक ग्रंथ-

1. संचेतना, त्रैमासिक पत्रिका
2. आजकल, मासिक पत्रिका, 2004, समीक्षा, डॉ. स्वर्णलता
3. कृष्णा अग्निहोत्री, निष्कृति, भूमिका से
4. शृंखला की कड़िया, महादेवी वर्मा, भूमिका से
5. आज़ाद औरत कितनी आज़ाद, शैलेंद्र सागर, रजनी गुप्ता

हिंदी विभाग प्रमुख, कला व वाणिज्य महाविद्यालय, सोवगांव (मालेगांव)

---

## आधुनिक स्त्री विमर्श : एक विश्लेषण

डॉ. संजीव सिंह

विभिन्न आन्दोलनों के आवागमन की क्रमिक विकास यात्रा में एक विशेष आन्दोलन जिसका साहित्यिक स्तर पर सर्वाधिक एवं बड़े जोर शोर के साथ आगमन हुआ वह आंदोलन स्त्री विमर्श के नाम से हिन्दी पट्टी में जाना गया। इस आंदोलन के अन्तर में स्त्री की समस्त क्रियायें एवं उसके जीवन का इतिहास एवं भूगोल के स्वरूप को आन्तरिक स्तर तक झाँकते हुए तत्कालीन एवं पूर्व की स्थिति का तुलनात्मक विश्लेषण बड़ी ही बारीकी से करने के साथ-साथ उसकी उत्कृष्टता को प्रमुख विशेषता प्रदान की गई। स्मरण रहे कि, जो बात हमें पाश्चात्य सभ्यता की आंदोलनवादी रणनीति के तहत अब सुनने को साहित्यगत स्तर पर प्राप्त हुई यदि हम गंभीरता पूर्वक ध्यान दें तो यही विषय वस्तु हमें आज से काफी समय पूर्व महादेवी की 'शृंखला की कड़ियाँ' में दिखाई देती हैं। यह चीज़ हमें एक बात सोचने पर कहीं न कहीं विवश करती है कि, हम भारतीय साहित्यकार या विचारक विदेशी चमक दमक को किस प्रकार अनायास ही उच्चता का दर्जा देते हैं और हम अपने अतीत अपने गौरव एवं अपनी पूर्व की वैचारिक गौरवान्वित पृष्ठभूमि को उथला समझने लगते हैं। जबकि हमारी ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक भावभूमि पाश्चात्य सभ्यता की अपेक्षा कहीं ज्यादा पुष्ट है। पाश्चात्य साहित्य के स्तर पर सोमोन एवं अन्य स्त्री रचनाकारों ने इस बात पर बल दिया कि, स्त्री की स्वच्छन्दता स्त्री विमर्श रूपी मुहिम का प्राण तत्त्व है। स्त्री विमर्श के अन्तर्गत आज अन्तर्विरोधों से परिचालित सेक्स चेतना सहसा मुक्त होकर नई-नई भूमियों को छूती हुई अन्त में उन असंख्य विरोधाभासों के मूल में निहित विविध और विराट सामंजस्य के सूत्र खोज लेने में सतत् चेष्टाशील है जहां एक अजीब-सी घुटन और जड़ मूर्च्छना के शिकार अन्तर्मुखी स्वप्नदर्शियों के अनपेक्षित मानसिक उद्देगों का उफान कसमसा रहा है साथ ही साथ शुष्क बौद्धिकता के ऊबड़-खाबड़ मैदान में विविध मुखी कल्पना की 'लेट राइट' चल रही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि स्वच्छन्दता कितनी और कहां तक होनी चाहिए? उसका स्वरूप क्या होना चाहिए? वास्तविकता के स्वरूप में उसका प्रतिस्थापन एवं काल्पनिक स्तर पर

साहित्यिकता के माध्यम से उसका सहसम्बन्ध कैसा होना चाहिए? फिर जिस सम्यक् स्तर पर हम उसे स्वीकारते हैं क्या वह उसी स्तरीय तात्विक स्वरूप में साहित्य में प्रतिस्थापित हुआ है या उससे उत्कृष्ट अथवा हम निकृष्टता को किसी न किसी रूप में स्वीकारते जा रहें हैं? यह कुछ ऐसे बुनियादी प्रश्न हैं जो निसंदेह अत्यंत महत्वपूर्ण हैं और जिनकी पड़ताल काफी ज़रूरी है।

### वैचारिक विश्लेषण

महादेवी जी ने 'शृंखला की कड़ियाँ' में जो बात प्रमुखता के साथ उठायी है। वह यह है कि स्त्री और पुरुष में समानता की भावनाओं का समुचित विकास होना चाहिए और इस विकास के लिए उन्होंने स्त्री शिक्षा को अनिवार्य मानते हुए उसे लड़कों की तरह ही उसी स्तर पर समान अवसर प्रदान करने की वकालत की है। उनका पूर्णतः बल इस बात पर रहा है कि लड़की और लड़कों में किसी भी प्रकार का विकासगत भेदभाव नहीं करना चाहिए और लड़की को भी वहीं सारे संसाधन उपलब्ध कराने चाहिए जो कहीं न कहीं माता-पिता लड़कों को येन केन प्रकारेण उपलब्ध कराने को लालायित रहते हैं। उन्होंने स्त्री की सबसे बड़ी कमजोरी उसकी अशिक्षा को स्वीकारते हुए उसे शिक्षित बनाने की ओर नई दिशा देने का कार्य किया। हालाँकि यह भी सत्य है कि, "शृंखला की कड़ियाँ" के यह स्त्री विषयक अंश कठमुल्लेपन की छाप वाले धर्माधिकारियों एवं ठेकेदारों को रास नहीं आये किन्तु जलजले और विकासपरक यात्रा को सामाजिक रूढ़िया या परम्पराओं की लंगड़ी जामात रोकने में हमेशा नाकाम साबित हुई है इतिहास इसका साक्षी है। एक बात यहां पर स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी भी तत्त्व को यदि सम्यक् रूप में ग्रहण करना है या उससे सामाजिक एवं दूरगामी चेतना का विस्तार करते हुए उसे विकास परक सम्यक् स्वरूप में नैरंतर्य के स्तर पर रखना है तो हमें साहित्यगत स्तर पर उसे अपसांस्कृतिक ताकतों एवं बाज़ारवादी दृष्टि से दूर रखना पड़ेगा क्योंकि इनके सम्पर्क में आने के बाद मूल तत्त्व का अमूल-चूल परिवर्तन होने का भय है और फिर क्रमशः

उसके दुष्परिणाम क्या-क्या हो सकते हैं इसकी निश्चित कल्पना भी करना कठिन है। जिस समय महादेवी की गद्य यात्रा एवं सामाजिक रचनाकारों का लेखन हो रहा था उस समय की स्थितियां एवं पृष्ठभूमि कुछ और थी आज के मुकाबले किन्तु स्त्री की विकासपरक दृष्टि वहां पर मुख्य एवं अन्य बातें गौड़ थीं। किन्तु आज के स्त्री विमर्श का स्वरूप इतना विकृत और विगलित हो चुका है कि उसमें स्त्री स्वच्छन्दता (मात्र दैहिक स्वरूप) के अतिरिक्त उसकी अन्य समस्याएं भावनाएं आदि हासिए पर चली गई हैं। ऐसी स्थितियों में नैसर्गिक प्रवृत्तियों से पृथक् आत्म स्थापन ही उसकी मूल प्रवृत्ति बन जाती है।<sup>1</sup> पूर्व में भारतीय साहित्य में नारी को बहुत अधिक सम्मान प्राप्त हुआ है।<sup>2</sup> यदि हम मन्नू भण्डारी जैसी कुछ स्त्री रचनाकारों को छोड़ दें तो अन्य रचनाकारों ने सही मायने में स्त्री के चीर-हरण में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी है और इनकी यह स्त्रीवादी दृष्टि ऐसी विकृत वासनात्मक 'गिद्ध दृष्टि' बन चुकी है जो बाज़ारवादी अंधी दौड़ में स्त्री की आंगिक छीछालेदर करने में भी कोई संकोच नहीं करती। इनकी लेखनी की परिधि में स्त्री के अंगों एवं स्त्री पात्र की कलुषित स्त्री कुचेष्टाओं से युक्त स्वच्छन्दता को ही रखा गया है। यह बात सत्य है कि स्त्री को स्वतन्त्र होना चाहिए किन्तु, उसकी भी अपनी नैतिक सीमायें हैं जिनका उसे परिपालन करना ही चाहिए अतिक्रमण नहीं। किन्तु यह आधुनिक बाज़ारवादी अद्भुत ताकतों का ही करिश्मा है कि आज स्त्री को नग्न करने की भूमिकाओं में रीतिकालीन रचनाकार या दरबारी संस्कृति न होकर आधुनिक कालीन स्त्री विमर्श का झण्डा लिए स्त्री उत्थान का दम्भ भरती हुई सबसे आगे स्त्री ही खड़ी है। क्या यही है स्त्री विमर्श? क्या यही है स्त्री उत्थान की सुधारशाला का महाद्वार या महा आन्दोलन? इस आन्दोलन की आधार भूमि एवं इसकी विचारगत दृष्टियों को पीछे ढकेलकर आधुनिक स्त्री रचनाकार बाज़ारवादी स्तर से खुद की और यौन-रचनात्मक शाब्दिक मकड़जाल से समूची स्त्री जाति को ही किसी न किसी रूप में फँसाने का कार्य कर रही है। आज के स्त्री विमर्श में स्त्री को संपूर्णता में नहीं प्रत्युत बाज़ारवादी आइने से खण्डों में विभाजित करके आँका जा रहा है। इस चकाचौध में स्त्री पूर्व की प्रतिष्ठा और नैतिकता की लक्ष्मण रेखा को सड़ी गली परम्परा या रूढ़ि सम्बन्धी भ्रमित विचारधारा मात्र का दर्जा दिया जा रहा है। स्त्री विमर्श के ठेकेदारों को इस बात से भी परहेज नहीं है कि, रचनाधर्मिता में एक खण्डित व्यक्तित्व की परिकल्पना एवं उसे पात्र के स्वरूप में प्रस्तुतीकरण करने के उपरान्त जनचेतना में इसकी प्रतिक्रिया या इसके दुष्परिणाम क्या होंगे? भारतीय मानस को चित्रित करने वाला भारतीय

रचनाकार साहित्य ही भारतीय साहित्य है।<sup>3</sup> साहित्य जीवन की व्याख्या है सही हैं साहित्य समाज का दर्पण होने के साथ-साथ उसकी पुनर्सृष्टि भी है। किन्तु यदि पुनर्सृष्टिकर्ता स्वयं ऐसी बेहयाई का चित्रण करें या अनैतिकता को नैतिकता के आइने से प्रदर्शित करें तो उसका अनुसरण करने वालों का क्या होगा? क्या ऐसे लेखन को साहित्यिकता का स्तर देना उचित है? हां आज यह बात भी बड़े स्तर पर चल रही है कि विवादास्पद वस्तु परक स्वरूप की बाज़ार अच्छी कीमत वसूलता है और उस पर उसकी नज़र भी रहती है। कहा जाता है इसमें अंधेरे के विरुद्ध प्रकाश का संघर्ष है।<sup>4</sup> इस्मत चुगताई से लेकर तसलीमा नसरीन, कृष्णा सोवती और आशीष नन्दी आदि की लम्बी फेहरिस्त निसंदेह इस बात की साक्षी है। किन्तु ध्यान रखना है कि, ऐसे हेय लेखन की परम्परा को दीर्घकालीन स्तर पर अकाट्य नहीं माना जा सकता। यह एक पाश्चात्य सभ्यता के अपसांस्कृतिक विकृत स्वरूप का भारतीय संस्करण है जो निसंदेह बहुत ही विध्वंसक है। रचनाकारों को इस दृष्टि से अपनी रचनाधर्मिता का विशेषतः ध्यान रखना ही होगा।

ज्ञानात्मक एवं रचनाधर्मिता के उत्कृष्ट स्वरूप को व्याख्यायित करने के लिए रचनाकार की पैनी दृष्टि होनी आत्यावश्यक है। सामयिक गतिविधियों सामयिक वातावरण से लेकर विषय एवं वस्तुगत स्तर पर उनमें सामंजस्य एवं न्यायपूर्ण स्तर पर उनका साहित्यानुकरण करना उसका प्रमुख दायित्व है। जिसका उसे दिल एवं आदर्शात्मक नैतिक कसौटी के निकष पर कसते हुए परिपालन करना ही चाहिए। प्रत्येक मनुष्य के अधिकार समान हैं साम्य नीति यही है।<sup>5</sup> भारतीय संस्कृति एवं चिंतना शब्द को ब्रह्म की संज्ञा सदा से देती रही है। हमें इस महानीय संस्कृति को बाज़ारवादी वायरस एवं पाश्चात्य अपसंस्कृति से पृथक् रखते हुए साहित्यिकता के स्तर पर उस स्त्री विमर्श की आवश्यकता है जो स्त्री का मखौल नहीं उड़ाये प्रत्युत उसकी भावनात्मक एवं मानसिक वेदना एवं समस्याओं को सही रूप में चित्रित करें, उसे अतिवादी ताकतों से बचाते हुए 'चीज़' या 'वस्तु' बनने की प्रक्रिया को समाप्तीकरण के स्तर पर ले जाते हुए स्त्री की खोई हुई प्रतिष्ठा दिलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य करे। इस महत्त्वपूर्ण कार्य में स्त्री की 'देह' का कोई भी विकृत चित्रण नहीं प्रत्युत आवश्यकता पड़ने पर प्रेम के सात्विक एवं उदात्त स्वरूप का दिग्दर्शन होना चाहिए। साहित्यिक स्तर पर स्त्री चित्रण वासनात्मक नहीं बल्कि नैतिकता से ओत-प्रोत होते हुए आदर्शात्मक स्वरूप में किया जाना चाहिए यही स्त्री विमर्श की सही दिशा होगी।

**शेष भाग पृ. 48 पर.....**



## सामाजिक क्रांति के आईने में दलित विमर्श : उपन्यास के संदर्भ में

निकालजे भूपेंद्र सर्जेराव

भारत की प्राचीन वर्ण व्यवस्था की जड़ों के कारण ही 'दलित' की अवस्था भयावह हो गई है। प्राचीन वर्ण व्यवस्था के इतिहास पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। इसकी जड़े अतीत के अंधकार में कही छिपी है, ऋग्वेद से बौद्ध काल बौद्ध धर्म के पतन से लेकर नवजागरण काल के भारतीय समाज के लगभग 5000 वर्षों के सामाजिक इतिहास में वर्ण व्यवस्था जातिभेद, अस्पृश्यता और पतनशील दासता के अनेक लिखित प्रमाण प्राप्त हुए हैं। आज हम देखते हैं, दलितों की पहचान गरीबी, असमानता, लाचारी, भूखमरी, दुख-दर्द, दासला से होती है। आज गांव के बाहर उसका जीवन है, क्योंकि आर्थिक स्तर अधिक न होने के कारण जहां भूमि मिलती है, वहाँ काम करना और जीवन जीना इस प्रकार की अवस्था दलितों के भीतर दिखाई दे रही है। देश की इस धरती पर दलितों का भी कभी राज था, मगर वे शासक से सेवक बन गये। वैश्यों और शूद्रों का अस्तित्व तो भारत में आर्यों के आने के पूर्व से ही था, जबकि क्षत्रियों और ब्राह्मणों की उत्पत्ति बाद में हुई। भारत के इतिहास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर दिशा से भारत में विदेशियों का प्रवेश निरन्तर अबाध गति से गतिमान रहा है। "आर्यों के आक्रमण से भारत की संघटित कृषि व्यवस्था बिखर गयी। संघर्षों के कारण कृषक अपनी कृषि भूमि को छोड़कर जंगलों में शरण लेने को बाध्य हुए क्योंकि दूसरी अवस्था में उन्हें हमलावरों की गुलामी करनी पड़ती। इस क्रम में बड़ी संख्या में कुछ बंदी भी बनाए गए जिनका दासों के रूप में प्रयोग किया जाता था।"

ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि आर्य बाहर से आए थे और अनार्य भारत के मूल निवासी थे। अनार्यों के धन को आर्यों ने खूब लूटा। इस समय शूद्र उत्पादन का कार्य करते थे और वैश्यों के समान, वह भी उत्पादन का हिस्सा करों के रूप में चुकाते थे।<sup>2</sup> वेदों में आर्यों से हारे हुए मूल निवासी जो जंगलों में रहकर अपने स्वतंत्र संघर्ष को क्रियान्वित कर रहे थे, आर्यों द्वारा दस्यु दास अर्थात् हिंसक कहे गए। ऋग्वेद से अस्पृश्यता शब्द का कही भी प्रयोग नहीं हुआ है।<sup>3</sup> के प्रारंभिक भागों में शूद्र को एक जनजाति के रूप में चित्रित किया गया है।<sup>4</sup> इस काल

में किसी भी प्रकार का समाज में स्तरीकरण नहीं हुआ था। शूद्र यह अपनी उपजीवी के लिए किसानी कर रहा था। जो भी काम मिलता था, वह उसे करना था वह किसी काम में बंधा नहीं था। "वैदिक काल में शूद्र की अपवित्रता का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। अस्पृश्यता का जन्म समाज में उस समय हुआ जब समाज कृषि प्रधान होने के कारण वर्गों में विभक्त हो गया।"<sup>5</sup> खेतों में काम करते और अपना जीवन जीते थे और यही से दलितों की स्थिति का जायजा लिया जा सकता है, संपूर्ण दुनिया में दलितों की सर्वप्रथम उत्पत्ति ही कृषि मजदूर के रूप में हुई थी। तीसरी से छठी शताब्दी ई. पू. में वह काल भी आया जब दलितों के लिए अस्पृश्य शब्द का प्रयोग प्रारंभ हुआ। प्राचीन काल से चली आयी शूद्रों की व्यवस्था में उत्तर प्राचीन काल में सुधार हुए। दलितों की एक जाति के रूप में उन्हें अलग-अलग यह किया गया जाति प्रथा इतिहास की विशिष्टतम और विलक्षण सामाजिक संस्था है। जिसके आधार पर आर्य अवार्यों के मध्य श्रेणी क्रम द्वारा श्रम विभाजन करके समाज को विघटित करने में सफल हुए। जाति के घेरे में बंद दलित अधिकार विहीन निर्विवाद रूप से आज के अस्पृश्य, शूद्र, दलित, जातियों के पूर्वज है।

मनुस्मृति को भारत का 'आदय धर्मशास्त्र' अर्थात् कानून की किताब माना जाता था। इसमें 12 अध्याय हैं, जिनमें कुल 2686 श्लोक हैं। पृथ्वी की उत्पत्ति, संस्कार स्त्री पुरुष धर्म निर्णय, वर्ण, लोकगति, धर्म एवं प्रायश्चित आदि निर्णय प्रधान विषय हैं। इसके अतिरिक्त उनके ऐसे विषय हैं जो मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत तक मानव जीवन में सप्ताहित रहते हैं। दलित वर्ग इस ग्रन्थ का विरोध करता है क्योंकि इसमें ब्राह्मण वर्ग प्रधानता प्रदान की गयी है। चिढ़ इस बात से है कि इसमें उपेक्षित वर्ग, शूद्र एवं स्त्री वर्ग को अधिकारों से वंचित किया गया है। किसी भी धार्मिक ग्रन्थ में किसी वर्ग विरोध को श्रेष्ठ सिद्ध करने से विशेष हानि नहीं होती। परंतु जब वर्ग को बहिष्कृत करके अन्य वर्ग द्वारा लुटना प्रारंभ किया जाता है तब संघर्ष का निर्माण होता है। शूद्रों के विरोध का स्वरूप अपने मालिक का काम छोड़कर भाग जाना होता था।

यह विरोध असहयोगात्मक होता था। यह विरोध समूह के रूप में नहीं वरन् व्यक्तिगत रूप में होता था। इस क्रांति के स्वर एक हजार साल तक भारत भूमि पर प्रति ध्वनित होते रहे। “गौतम बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् विभिन्न विघटन हो गए। बौद्ध सामाजिक चिंतन की भावधारा सिद्धों और नाथों तक पहुँची और लोक भावना से भरे कबीर, रविदास जैसे जाति प्रथा और अस्पृश्यता के घोर विरोधी इन सन्तों की वाणी में यह प्रस्फूटित हुई।”<sup>6</sup> दलितों की वाणी को मुखरित करने वालों में महात्मा फुले, छत्रपति शाहू महाराज, डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर आदि प्रमुख रहे हैं। इन सभी महान् चिन्तकों ने समाज को व्यापक दृष्टि प्रदान की। दलित चेतना के परिणाम स्वरूप ही दलित साहित्य उत्पन्न हुआ। भारतीय मनीषियों के अतिरिक्त हिंदी उपन्यासकारों ने इस दलित आक्रोश को समझते हुए अपने साहित्य में उनकी मूक पीड़ा को वाणी दी।

दलित समस्याओं को लेकर कुछ उपन्यास इस मुख्य-धारा के लेखकों के द्वारा और भी लिखे गए हैं। इनकी संख्या अधिक नहीं है। फिर भी दलित चिंतन की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। पं. किशोरीलाल गोस्वामी और पं. लज्जाराम मेहता प्रमुख हैं। जिन्होंने सनातन धर्म को बचाये रखने के लिए वर्ण व्यवस्था और छुआछूत का समर्थन करके कट्टरपन का परिचय दिया। इस समस्या पर उन्होंने प्रसंगवश ही विचार किया है, इसलिए उनके उपन्यासों में नाममात्र के लिए ही दलित विमर्श हुआ है। वह भी नकारात्मक स्तर पर। किशोरीलाल गोस्वामीजी ने अंगूठा की नगीना उपन्यास में नवजागरण की प्रगतिशील सुधारवादी परम्परा का विरोध करते हुए जातिवाद भेदभाव और छुआछूत का समर्थन किया है। इसी तरह लज्जाराम मेहता आदर्श हिंदू उपन्यास में जातिगत भेदभाव को कोई सामाजिक समस्या नहीं मानते। प्रेमचंद ने दलित विमर्श को सकारात्मक आधार पर विकसित किया और गोदान में दलित ब्राह्मणों के सामने चुनौतीपूर्ण प्रस्ताव रखते हैं। तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते तो हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हिंदी की मुख्यधारा के दलित चिंतन से संबंधित प्रमुख उपन्यास निम्न हैं, प्रेमचंद का गबन, कर्मभूमि, पाण्डेय बेचन शर्मा का मनुष्यानंद, निराला का निरूपमा, चतुरसेन शास्त्री का उदयस्त, जयशंकर प्रसाद का कंकाल, रांगेम राघव का ‘कब तक पुकारूँ, भगवती चरण वर्मा का भूले बिसरे चित्र, भैरव प्रसाद गुप्त का सत्ती मैया का चौरा, रामदरश मिश्र का जल टूटता हुआ, सूखता हुआ तालाब, जगदीशचंद्र का धरती धन ना अपना, मधुकर सिंह का सबसे बड़ा छल, नागार्जुन का बलचनमा, अमृतलाल नागर का नाच्यौ बहुत गोपाल आदि महत्त्वपूर्ण उपन्यास में सवर्णों की एकता दलितों के खिलाफ लामबंद

दिखती है।

इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश करते ही दलितों में जागृति विकास और अस्तित्व बोध परिलक्षित होता है जातिगत उत्पीड़न को नस्ली भेदभाव मानकर उनके खिलाफ सामाजिक नज़रिये से उनमें मानव होने का बोध आया और वे अपने अस्तित्व के प्रति सतर्क हुए। दलित चेतना के लिए छटपटाने लगे अपने अस्तित्व के प्रति सतर्क हुए। जिसमें कब तक पुकारूँ का सुखराम, मैला आँचल का कालीचरण, धरती धन न अपना का काली उर्फ कालिदास, नाच्यौ बहुत गोपाल का मोहन छप्पर का चंदन, जसनसभई सवेर का सरबन पवरिशिय का अनुकूल मुक्तिपर्व का बंशी उस शहर तक का पीलादास ऐसे पात्र हैं जिन्होंने अपने जातीय सरोकारों को भोगा है और सवर्ण समाज के उत्पीड़न को भी सहन किया है लेकिन अपने अस्तित्व के प्रति वे सजग और तटस्थ नज़र आते हैं। सामाजिक मान्यताओं को समय-समय पर झुठलाते भी हैं और अपने व्याधित्व के माध्यम से अपने तथा दलित वर्ग की पीड़ा को समझाकर उन्हें जीने की प्रेरणा देते हैं। इन उपन्यासकारों ने समय-समय पर उन्हें जो अनुभूति हो गई उसी को आधार बनाकर उपन्यास को लिखा है।

नाच्यौ बहुत गोपाल उपन्यास के माध्यम से अमृतलाल नागर ने नारी जीवन की व्यथा और उसके यौन शोषण का अंकन किया है। जिसमें निर्गुणिया, रिषी देवी, वेदवली, गुल्लन इन नारियों के माध्यम से लेखक ने काम भावनाओं को चित्रित किया है। जिसमें लेखक ने नारी की दयनीयता पर भी चित्रित किया है। नारी के शोषण और जातीय धर्म कर्म से नर-नारी संबंधों की व्याख्या करके सदियों से चली आ रही अनैतिक संबंधों को बतलाने का प्रयास किया है। नारी जाति की स्थिति की व्याख्या करते हुए निर्गुनिया करती है कि ‘मेरी जात तो काम देव की ज्वाला में भस्म हो गई शर्मा जी। मैंने छोड़ी कहाँ? वह तो अपने आप छूट गई ..... औरत, पानी और काढ़ का कोई रूप नहीं होता। उन्हें जैसा ढालो वैसे ही ढल जाते हैं।’ इस प्रकार नारी की दयनीयता और सामाजिक मान्यताओं पर वह चोट करती है।

धरती धन न अपना के उपन्यासकार ने नारी शोषण और उसके दयनीय दशा का चित्रण अत्यंत सूक्ष्मता के साथ किया है। नारी हर युग में शोषण का शिकार रही है। पुरुष प्रधान समाज में उसे अपने अधिकारों के प्रति वंचित है। उपन्यास में ज्ञानो, प्रीतो, लच्छो, प्रीती, बेने, चाची इन स्त्रियों की आर्थिक दुर्दशा और यौन शोषण उनकी मजबूरियों को व्यक्त किया है। लेखक ने नारी शोषण और उसकी दयनीयता का यथार्थ चित्रण किया है। चौधरी चमार स्त्रियों को अपनी

काम भावनाओं का साधन समझकर उनकी दयनीयता का लाभ उठाते हैं। उपन्यासकार ने मुहल्ले के बीच बैठी दलित नारियों की निंदा, हँसी-मज़ाक लड़ाई-झगड़े और सुख-दुःख के साथ अपनी दयनीयता को इसी में ओढ़कर किस प्रकार तृप्त होती है। उसका वर्णन भी यथार्थ रूप में किया है। चमारिन नारी के पास अपने तन के सिवाय कुछ भी नहीं है। उसका भी भोग जबरदस्ती से चौधरी लोग करते रहते हैं और अपनी आर्थिक विपन्नता के तरल कोई जबान नहीं खोलता है।

छप्पर उपन्यास में कमला एक दलित नारी है। वह ईंट भट्टे पर काम करती है। कभी-कभी वह मालिक या आने जाने वाले लोगों को पानी पिलाने का कार्य भी करती है। एक दिन वह पानी देने के लिए जब दफ्तर .... कमरे में पहुंची तो एक आदमी ने उठकर दरवाज़ा बंद कर दिया और इससे पहले कि मैं कुछ समझ पाती वे मदमस्त भेड़िए की तरह उस पर टूट पड़े। मैंने खूब हाथ पैर मारे, चीखी चिल्लाई भी लेकिन सब बेकार गया। प्रतिशोध करते-करते बेबस हो गई मैं। एक बाद एक उन सब ने मेरे शरीर को नोंचा और अपनी हवस पूरी की।<sup>18</sup> इस तरह कमला का दर्द समाज के सामने अपने अस्मिता को लूटते हुए देखते रहती है। कमला का इसमें कसूर इतना ही था कि वह सुंदर और दलित थी। वह कहती है कि मेरा दोष यह था की मेरा रंग दूसरी लड़कियों से थोड़ा साफ था और मेरे नाक नक्श दूसरी लड़कियों से थोड़े अच्छे थे। काश में बदसूरत होती तो कम से कम मेरा जीवन तो बर्बाद नहीं होता। इस प्रकार नारी के यौन शोषण का यह सिलसिला दलित जीवन में दलित विपन्नता के कारण भोगना पड़ता है।

सत्य प्रकाश ने अपने उपन्यास जस, तस, भई सबेर में धुसिया, रामरती तथा सुनहरी के माध्यम से नारी जीवन की त्रासदी का चित्रण किया है। ब्राह्मण और भगत, ठाकुर, इनका यौन शोषण करके उनकी आबरू से खेलते हैं। सामाजिक उत्पादित और अपमान का जहर पीकर भी यह शिव की भांति अपनी जीवन लीला को ऐसे पथ की ओर ले जाना चाहते हैं जहां मानवीयता और सम्मान के साथ समानता, बंधुता और एकता का साम्राज्य स्थापित हो। भारतीय पृष्ठभूमि को देखे तो आज भी अस्पृश्यों के घर जलाये जाते हैं, नारियों को सरेआम नग्न करके उनको बाज़ारों और सड़को पर धुमाया जाता है। उनकी अस्मिता नीलाम की जाती है। शोषक वर्ग आज भी शक्तिशाली है और दिन रात मेहनत मजदूरी करके भी शोषित की स्थिति दिन-प्रतिदिन दयनीय होती जा रही है। इसका सीधा-सा अर्थ है कि अस्पृश्यों दलितों को समझने की सवर्णों की मानसिकता न की विचारधारा तथा कमजोर मजदूरों एवं किसानों का शोषण करने की पूंजीवादी शोषक प्रवृत्ति अपने

समाज का अविभाज्य घटक बन चुकी है।

उधर के लोग उपन्यास अजय नावरिया का पहला उपन्यास है यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। यह दलित साहित्य की महत्वपूर्ण रचना है। नायक दलित जीवन से खटिक समाज से है जो पढ़-लिखकर अपने शहर दिल्ली के ही एक विश्वविद्यालय में प्राध्यापक है। उसके पिताजी ने उससे कहा था “जो कौम जितनी जल्दी अम्बेडकरी दर्शन समझेगी उतनी जल्दी अपना विकास कर पाएगी। अतः उसकी रंग-रंग में अम्बेडकरी विचार दर्शन है। उसका संघर्ष समता स्वतंत्र, बंधुता के लिए है मानवता के लिए है, उसके जीवन का सूत्र है शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो, कई मुश्किलों के बावजूद वह अपने पथ से विचलित नहीं होता, संघर्षरत रहना है। जाति व्यवस्था से उपर उठकर सोचने के कारण ही नायक ब्राह्मण लड़की वंदना झा से विवाह करता है। वंदना सब कुछ छोड़कर नायक के पास आती है, पर उसका यही जुनून-सा प्यार नायक को कठिनाइयों में डाल लेता है। क्योंकि नायक द्वारा अपनी बात न मानने के कारण वह आत्महत्या करती है। उसकी आत्महत्या से नायक की बसी हुई दुनिया उजड़ जाती है। नौकरी जाती है छह महीने तक जेल में रहना पड़ता है। बाइज्जत बरी होने के बावजूद समाज उसे शक की नज़र से देखता है। लेकिन वंदना यह नायक पर अधिकार जमाना चाहती थी। वह यह सह नहीं पाती कि उसका पति उसे छोड़कर मित्रों के साथ पार्टी मनाएं। वंदना स्वतंत्र विचारों की है। पति से हर बात की बराबरी चाहती है। सिगरेट पीना, शराब पीना, यहां तक कि पति के थप्पड़ का जवाब थप्पड़ से देने की बराबरी भी वह चाहती है। वंदना के परम्परागत संस्कार उसे ऐसा करने के लिए मजबूर कर रहे थे। इसी कारण वह अपना जीवन त्याग देती है।

नायक का अंबेडकरी दर्शन में विश्वास है। उसे शोषण और अन्याय अत्याचार से चिढ़ है। हरियाणा के गोहाना में दलित की बस्ती जलाई थी पचास घर फूंक दिए थे। इस घटना से कोई भी इंसान विचलित होगा ही दलित रचनाकार तो स्वाभाविक रूप से होगा। आज दलित लेखक अगर किसी बात से परेशान है तो वह आपसी भेदभाव को लेकर यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि लेखक ने भारतीय समाज के अहम् सवाल जाति व्यवस्था, स्त्री और मजदूर का शोषण आदि पर अच्छी खासी चर्चा की है। दोनों तरफ के तर्कों को उपस्थित कर इन विषयों पर स्वस्थ चिन्तन प्रस्तुत किया है। यह निश्चित ही उपन्यास का सार्थक पहलू है।

**शेष भाग पृ. 48 पर....**

## उत्तराखण्ड की बुक्सा जनजाति एवं उनकी चुनौतियाँ

कौस्तुबा नन्द जोशी

सांस्कृतिक-सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परम्पराओं का पृथक् स्वरूप सृजित करने वाला समूह जनजाति के नाम से जाना जाता है। यह जनजाति समूह भारत वर्ष के विस्तृत भू-भाग पर निवास करता है। सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना पर विकसित निकटवर्ती क्षेत्रों से पूर्णतः मानव-विकास श्रृंखला का प्रतिनिधित्व करने वाली इन जनजातियों से भूगोलवेत्ता अतीत से ही आकर्षित हैं। विभिन्न प्रकार के भौगोलिक वातावरण में निवास करने वाले ये लोग अपनी मूल संस्कृति को बनाये हुये हैं। अनेक जनजातियों में औद्योगीकरण, नगरीकरण, वननीति का प्रभाव परिलक्षित होने लगा है फिर भी अनेक समूह ऐसे भी हैं जिनमें उनकी मौलिक संस्कृति का अनुभव किया जा सकता है। जनजातियाँ अधिकांशतः पर्वतीय, पठारी, जंगली तथा सागर तटीय क्षेत्रों में निवास करती हैं जिस कारण इनको वनवासी, जंगली, आदिवासी, वनपुत्र, पहाड़ी आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। विकास की धारा से दूर प्राचीन परम्परागत अर्थव्यवस्था पर जीवनयापन कर रहे इस समुदाय की समस्यायें अत्यन्त जटिल हैं। जिनका निदान मानवता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

भारत के 28वें राज्य के रूप में अस्तित्व में आये राज्य उत्तराखण्ड की संस्कृति एवं सभ्यता भी प्राचीन काल से ही अपनी विशिष्टताओं के कारण देव संस्कृति के रूप में जानी जाती है। उत्तराखण्ड में निवास करने वाले विभिन्न प्रान्तों से आये लोग, विभिन्न जनजातियों एवं कतिपय मूल निवासियों के विभिन्न रीति-रिवाजों, खानपान के तरीकों, रहन-सहन, धार्मिक मान्यताओं एवं बोली भाषा के कारण यहां की संस्कृति विराट, उदार एवं सम्पूर्ण भारत की सांस्कृतिक झलक प्रस्तुत करने वाली बन गयी है।

यहां की प्रमुख जनजातियों, बुक्सा, थारू, जौनसारी आदि वर्षों से वर्तमान उत्तराखण्ड के दुर्गम क्षेत्रों में निवास करते आ रहे हैं, जिन क्षेत्रों में अन्य जातियाँ निवास करने की कल्पना भी नहीं कर सकती थी। अति दुर्गम क्षेत्रों में इन जनजातियों ने निवास कर उसे रहने योग्य बनाया, परन्तु वर्षों से समाज की मूलधारा से कटे रहने के कारण इन जनजातियों की कल्पना

मुख्य रूप से बृहत् समाज से उनके भौगोलिक एवं सामाजिक अलगाव के रूप में की जाती है क्योंकि जनजातियाँ बृहत्तर भारतीय समाज से पृथक् रहती रही हैं, उनके परिवार के प्रदेश पर शासन में उनकी स्वायत्तता है। उनका भूमि, वन और अन्य संसाधनों पर नियंत्रण है और वे स्वयं की परम्पराओं और रीति-रिवाजों से शासित हैं। दुनिया के 60 से अधिक देशों में लगभग 150 मिलियन जनजातियाँ निवास करती हैं, जिनमें से सम्भवतः सबसे बड़ी संख्या भारत में निवास करती है। वर्तमान में भारत में जनजातियों की संख्या लगभग साढ़े 8 करोड़ के आसपास है जो देश की कुल जनसंख्या के 8 प्रतिशत के आसपास है। विशेष बात यह है कि देश की 68 प्रतिशत जनजातीय जनसंख्या केवल 7 राज्यों में निवास करती है।<sup>1</sup>

उत्तराखण्ड की दूसरी सबसे बड़ी जनजाति बोक्सा कुमाऊँ की तराई में बुक्सा बहुल इलाके 'बुक्सार' में निवास करती है। त्रिलोचन पांडे के मतानुसार काशीपुर, गुलरबोझ और बाजपुर वाला भूभाग ही असली बुक्सार है, जहाँ जादू टोना झाड़ू-फूक वाली कहावत "बुक्साड़ की विद्या मारू" आज तक जीवित है। लेकिन पहले का बुक्सा अब केवल बाजपुर और गदरपुर ब्लाकों तक सीमित होकर रह गया है। शताब्दियों से ये लोग हिमालय के इस तराई भाग में अत्यन्त विषम जलवायुवीय परिस्थितियों में निवास करते आये हैं। तराई क्षेत्र में बुक्सा जनजाति 28°43 से 29°35 उत्तरी अक्षांश तथा 78°53 से 80° पूर्वी देशान्तर के मध्य निवास करती है। वैसे तराई के रूद्रपुर ब्लाक में भी कुछ बुक्सा बसते हैं लेकिन उन्हें जनगणना में बुक्साओं में शामिल नहीं किया जाता है।<sup>2</sup>

थारू जनजाति की भांति बुक्साओं के प्राचीन इतिहास के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। बुक्साओं की आम धारणा है कि वे राजस्थान के किसी राजपूत राजा के वंशज हैं और राज-घराने की किसी रानी से उसकी उत्पत्ति हुई है। बुक्साओं के मध्य कल्याण कार्य करने वाले अमीर हसन का कथन है कि "बाजपुर के बुक्साओं की मान्यता है कि उनका पूर्वज राजस्थान का वीर राजा जगतदेव था। वह राजा दुर्गा का इतना बड़ा भक्त था कि उसने देवी-पूजा में अपने सिर की बलि दे डाली। उनका

कथन है कि वे ही राजस्थान से दुर्गा देवी को तराई में लाये जो अब काशीपुर में स्थापित है। वहां पर दुर्गापूजा मौके पर वे पूजा के लिए रस्म के तौर पर चढ़ाये गये नारियल को प्रतीक रूप में राजा जगतदेव का सिर मानते हैं।

कुछ बुक्साओं की धारणा है कि जगतदेव के दो बेटे थे- चित्तौड़ एवं नन्दोड़ या अंधर। थारू चित्तौड़ के वंशज हैं जबकि बुक्सा अंधर के। परन्तु कुछ बुक्साओं का मत है कि वे पंवार राजपूत है तथा उनका पूर्वज उदयजीत था। उनके अनुसार उदयजीत राजा जगतदेव का भाई था, जिससे मतभेद होने के कारण उसको घर से भगा दिया गया था। वह सुरक्षित स्थानों की ढूँढ़ में अपने साथियों सहित नैनीताल जिला स्थित बनबसा में बस गया था।

चिकित्साधिकारी डॉ. बी.एस. पांगती के थारू एवं बुक्साओं का मानव-वैज्ञानिक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला है कि बुक्सा राजस्थान के राजाओं के वंशज नहीं है, क्योंकि मानव विज्ञान के आधार पर उनके चेहरे, रंग-रूप और शरीर की बनावट का राजस्थानियों से कोई साम्य नहीं है जबकि इन्हीं बातों में मंगोल जाति से काफी हद तक मिलते-जुलते हैं।<sup>13</sup> परन्तु बुक्सा जनजाति का उद्भव स्थल एवं वंशल-मूल का अनुमान आज भी अत्यन्त विवादास्पद है। ऐतिहासिक मतों के अनुसार भारत में जब मुगलों का आक्रमण हुआ था तब चित्तौड़ की राजपूत स्त्रियाँ अपने अनुचरों के साथ पहाड़ों में जा छुपी थीं। बोक्सा जनजाति इन्हीं अनुचरों एवं राजपूत स्त्रियों के परस्पर सम्बन्धों का प्रतिफल है। सम्भवतः यही कारण है कि इस समाज में स्त्रियों को प्रधानता एवं पुरुषों को गौणता प्राप्त है। पुरुष वर्ग सदैव गृह के बाहर भोजन करता है।<sup>14</sup>

बोक्सा जाति अपने को थारूओं से उच्च समझती है। जो बोक्सा रामगंगा के पूर्व में हैं अर्थात् कुमाऊँ की तराई भाबर में है उन्हें 'पुरबिया' कहते हैं और जो देहरादून जिले में हैं उन्हें 'महरा' कहते हैं।<sup>15</sup>

बोक्सा जनजाति में पितृसत्तात्मक परम्परा है। बोक्साड़ में संयुक्त तथा एकाकी परिवार पाये जाते हैं। परिवार का मुखिया वृद्ध व्यक्ति होता है। बुक्सा लोग अपने समान गोत्र के भीतर तथा अपनी जनजाति से बाहर विवाह नहीं करते हैं। बुक्सा जनजाति का जनजातीय राजनीतिक संगठन 'बिरादरी पंचायत' के नाम से जाना जाता है। पंचायत का प्रधान तख्त होता है। इसके अधीन दरोगा, मुंसिफ तथा सिपाही होते हैं। प्रत्येक का कार्य अलग-अलग होता है। तख्त किसी विवाद में सभा का दिन निश्चित करता है तथा दोनों पक्षों की बात सुनने के बाद निष्पक्ष फैसला सुनाता है एवं दण्ड देता है। मुंसिफ विवाद की यथार्थता को जानने के लिए उसकी गंभीरता से

छानबीन करता है। दरोगा का कार्य तख्त द्वारा निर्धारित दण्ड को सम्पादित कराना होता है। सिपाही तख्त द्वारा निर्धारित दिन की सूचना ग्राम प्रधानों तक पहुँचाता है। एक पंचायत के अन्तर्गत 10-20 गांव आते हैं।

बुक्सा समाज हिन्दू समाज से अत्यधिक प्रभावित है। इनमें हिन्दुओं के समान सामाजिक रीति-रिवाज प्रचलित हैं। स्त्रियों की दशा अपेक्षाकृत उच्च है, क्योंकि उन्हें तलाक देने का अधिकार प्राप्त है। बुक्सा अपनी भाभी, साली से भी विवाह कर लेते हैं। इनमें बैठाण विवाह भी प्रचलित है जिसके अन्तर्गत कुछ धन देकर विधवा या विवाह विच्छेद पायी महिला को अपने घर ले जाया जाता है। एक विवाह श्रेष्ठ माना जाता है। समाज में महिलाओं का स्तर पुरुषों की अपेक्षा उच्च है।<sup>16</sup>

बुक्सा पुरुषों की परम्परागत वेशभूषा धोती, कुर्ता, सदरी एवं पगड़ी है जबकि महिलाओं की लहंगा व चुनरी है। बुक्सा जनजाति को सर्वाधिक हिन्दू धर्म प्रभावित जनजाति माना जाता है। ये हिन्दुओं की भाँति अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। शिव, गणेश, राम, कृष्ण, काली, दुर्गा, लक्ष्मी आदि इनके प्रमुख देवी-देवता हैं। ये इन देवी-देवताओं के अतिरिक्त भूमिया, वनदेवी या हिडिम्बा की भी पूजा करते हैं। ग्राम का मुख्य देवता भूमिया है। प्रत्येक गाँव के प्रधान के घर के पास भूमिया का थान होता है। गाँव के प्रत्येक उत्सव त्यौहार व संस्कार में भूमिया की सर्वप्रथम आराधना की जाती है। हिन्दू त्यौहार एवं उत्सव के अतिरिक्त ये लोग होगण भौरौ, ढलइया आदि त्यौहारों को भी उत्साह से मनाते हैं।<sup>17</sup>

बोक्सा जंगली मांस और खेती से अपना पालन-पोषण करते हैं। ये मछली पकड़ने के बड़े शौकीन होते हैं। कभी-कभी खेतों का काम छोड़ कर ये नदी में मछली पकड़ने चले जाते हैं। ये लोग नदी की बालू को धोकर सोना भी निकालते थे। पहले ये लोग गढ़वाल भाबर के पातली दून क्षेत्र में सोना नदी की रेत से सोने को धोकर छानकर निकालने की कला में एकाधिकार रखते थे और उनके दल अलकनन्दा की रेती से सोना निकालने को श्रीनगर और कलियासौड़ क्षेत्र तक पहुँचते थे। उनके उपकरण तुन की सांद, तुमड़ी व तुन की फारूव होते थे। वे तुमड़ी के छेद से पानी की धार को सांद में डालकर सोने के कणों को बटोरते थे। परन्तु आज यह कार्य अनार्थिक होने से बंद हो गया है।<sup>18</sup>

बुक्सा जनजाति की पारम्परिक कला में जीवन की उमंग और उल्लास झलकता है। प्राकृतिक वन सम्पदा ही इनकी सम्पत्ति है। इसलिए अपने आस-पास उपलब्ध संसाधनों का उपयोग करके ही ये लोग अनेक प्रकार का निर्माण एवं सृजन करते हैं।



कृषि पूर्व से ही बुक्साओं की आजीविका का प्रमुख साधन रहा है। लगभग 90 प्रतिशत बुक्सा खेती करते हैं। पहले खेती की कमी नहीं थी।

इन जनजातियों ने भीषण जंगलों एवं बंजर भूमि को साफ कर कृषि योग्य बनाया और गाँव बसाकर रहने लगे थे लेकिन आज स्थिति विपरीत है। सन् 1951 के रिकार्ड के अनुसार थारू और बुक्साओं के स्वामित्व में लगभग 2,50,000 हेक्टेयर भूमि थी परन्तु अब यह घटकर 30,000 हेक्टेयर से भी कम हो गई है। यह परिवर्तन इन जनजातियों की भूमि उनके नये पड़ोसियों द्वारा अनुचित तरीकों से हड़प लिये जाने के परिणामस्वरूप आया है। इन जनजातियों का भोलापन और शिक्षा की निहायत कमी के कारण ही आज वे अपनी अधिकांश भूमि से हाथ धो चुके हैं। एक ओर जहाँ शराब के प्रति उनकी कमजोरी का नाजायज फायदा उठाकर उनकी जमीन हड़प ली गई, वहीं उनके भीरू स्वभाव के कारण आज वे अपनी अधिकांश भूमि से बेदखल हो गये हैं और खेतिहर मजदूर के तौर पर काम करने को मजबूर हैं।

देश के विभाजन के फलस्वरूप अपने घरों से बेदखल हुये और तराई में प्रवेश करने वालों की व्यथा को समझते हुए इन आदिवासियों द्वारा उन्हें शरण दी गयी। इसी दरियादिली के कारण वे अपनी जमीन से बेदखल होते गये। शासन द्वारा भूमि का हस्तांतरण मान्य न होने से इस कार्य को शपथ-पत्रों के जरिये किया जाने लगा। ज़रूरत पड़ने पर आदिवासियों की जमीन पर अन्य लोगों द्वारा शारीरिक बल और धन बल दोनों के आधार पर कब्जा कर लिया गया। बनिये और बंजारों ने बुक्साओं को उधार में माल बेचकर उन्हें कर्ज के भंवर में फंसा लिया और उधार में आने वाला धन वास्तविक से कई गुना अधिक दर्ज किया जाने लगा। अधिक ब्याज थोपकर और कर्ज न चुका पाने के एवज में बुक्साओं से शपथ-पत्र के जरिये बंधक के तौर पर उनकी जमीन को हथिया लिया गया। धीरे-धीरे बुक्सा लोग अपनी ही भूमि में मालिक की जगह मजदूर बनने को मजबूर हो गये। उत्तर प्रदेश सरकार के जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि-सुधार अधिनियम, 1961 के अन्तर्गत भूमि के इस हस्तांतरण को जिलाधीश की विशेष अनुमति के बिना शासकीय अभिलेखों में दर्ज तो नहीं किया जा सकता है लेकिन भूमि की इस हड़प नीति के कारण यह जनजाति अपनी भूमि से बेदखल हो रही है।<sup>9</sup>

तराई में जंगलों में कटान और नई बस्तियों के उभर आने के कारण स्थिति और भी विकट हो गई है। जमीन के दामों में लगातार वृद्धि से धनिकों में भूमि हड़पने की प्रवृत्ति और भी बढ़ने लगी। उद्योगों के खुलने से इन क्षेत्रों की

जनजातियों का जीवन और भी दयनीय हो गया है। कई धनिकों ने इन लोगों को कर्जा देने का धन्धा ही इस उद्देश्य से किया कि कर्ज के बदले बन्धक के रूप में आदिवासी भूमि हड़प ली जायेगी। शुरू में आदिवासियों के पास इतनी अधिक भूमि थी कि जरा-जरा-सी बात पर भूमि को बन्धक रखने में कोई तकलीफ नहीं होती थी। शराब की अत्यधिक लत से भी इनकी भूमि इनसे जाती रही क्योंकि इन आदिवासियों ने शराब की एक बोतल पर भी अपनी भूमि का टुकड़ा गिरवी रख दिया।

बदलते परिवेश में बुक्सा समाज के सामने अपने भूमि संबंधी अधिकारों को बचाना, कला एवं संस्कृति के संरक्षण की महत्वपूर्ण चुनौती है। बदलते परिवेश के साथ-साथ बुक्सा समाज के मूलभूत ढांचे, संस्कृति में कई परिवर्तन आ चुके हैं। अपनी वास्तविक संस्कृति को भूल कर यह जनजाति भी पाश्चात्य संस्कृति को अपना रही है। जो इनकी वास्तविक संस्कृति के हास का कारण बन रही है। जनजातियों को विशिष्ट समुदाय के सदस्यों के नाते कुछ विशेष अधिकार भी प्रदान किये गये हैं। जैसे- जनजातीय भाषाओं, बोलियों और संस्कृति का संरक्षण (अनुच्छेद-29) सम्बन्धी प्रावधान एवं संविधान के अनुच्छेद-244 और 244 (क) की पांचवीं और छठी अनुसूची में यह प्रावधान है कि राज्य जनजातीय क्षेत्रों में विशेष प्रशासनिक व्यवस्था कर सकता है। विभिन्न कानूनों के माध्यम से जनजातीय समुदाय से गैर जनजातीय समुदायों को भूमि का हस्तांतरण एवं उनकी भूमि उन्हें वापस दिलाने का प्रयास भी किये गये हैं। जनजातीय समुदायों के संरक्षण के लिये हाल के वर्षों में दो महत्वपूर्ण कानून बनाये गये हैं। पहला-पंचायत प्रावधान अधिनियम, 1996 जिसके द्वारा यह प्रावधान है कि जनजातियों को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वे परम्पराओं और रीति-रिवाजों, सांस्कृतिक पहचान, सामुदायिक संसाधनों और ग्राम सभा के जरिये परम्परागत विवाद निपटाने वाली पद्धति को संरक्षित रख सकें। दूसरा कानून अनुसूचित जनजाति और परम्परागत वनवासी अधिनियम, 2006 जिसका उद्देश्य जनजातीय लोगों के साथ सदियों से किये जा रहे अन्याय को समाप्त करना है।<sup>10</sup>

कई कानूनी अधिकारों के बाद भी बुक्सा जनजातियों के सामने अपनी संस्कृति, कला एवं वन भूमि सम्बन्धी अधिकारों के संरक्षण की चुनौती ही है। हालांकि संविधान के अनुच्छेद-29 में कहा गया है कि किसी भी सांस्कृतिक या भाषायी अल्पसंख्यक वर्ग को अपनी भाषा और संस्कृति के संरक्षण का अधिकार है परन्तु आज की आधुनिकतापूर्ण जीवन शैली एवं वर्षों से बुक्सा जनजाति द्वारा हमारे सामान्य एवं बौद्धिक समाज की उपेक्षा की मार झेलने के कारण उनकी सभ्यता एवं संस्कृति एवं

अधिकारों का ह्रास हो रहा है और समाज की उपेक्षा के कारण ये अपना अस्तित्व खोती जा रही है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक विशिष्ट संस्कृति की पहचान रखने वाली बुक्सा जनजाति के वास्तविक स्वरूप और संस्कृति को बचाने के लिये आवश्यक प्रयास की ज़रूरत है। जनजातियों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करके, उनमें शैक्षिक विकास के माध्यम से संस्कृति के संरक्षण एवं समाज की धारा से जुड़ने हेतु प्रेरित करने की आवश्यकता है। शराब के दुष्टपरिणामों सम्बन्धी कार्यक्रमों के माध्यमों से उन्हें सचेत करने की आवश्यकता है। यह कार्यक्रम विभिन्न गैर-सरकारी संगठनों, संस्थाओं, प्रौढ़ शिक्षा एवं आगनबाड़ी केन्द्रों के माध्यम से किया जा सकता है। भू-अतिक्रमण, पेयजल, ऋणग्रस्ता, यातायात, सफाई, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि की समस्याएँ इनके समक्ष हैं। सरकार द्वारा इनकी समस्याओं को बड़ी गम्भीरता से लिया गया है तथा इनके निदान के लिए अनेक योजनाएं चलायी गयी है। इसका इनको समुचित लाभ नहीं मिल पा रहा है। नवसृजित उत्तराखण्ड राज्य इनकी समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करे तो निकट भविष्य में सरकार की नीतियों का प्रभाव इनके सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर अवश्य पड़ेगा।

#### पृ. 44 का शेष भाग.....

##### सन्दर्भ-

1. सिंह, डॉ. नगेन्द्र, 1993 दलितों के रूपांतरण की प्रक्रिया, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लि., नई दिल्ली, पृ. 18
2. वही, पृ. 19
3. यागति, चिन्नाराव -2003, दलित स्टगल फॉर आइडेन्टिटी आंध्र और हैदराबाद, 1900-1950, कर्नाटका पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 21
4. सिंह, डॉ. नगेन्द्र -1993 कर्नाटका पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, पृ. 33
5. वही, पृ. 33
6. चन्द्रा आर चन्वरिक, कन्हैयालाल, 2003, आधुनिक काल का दलित आन्दोलन यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली पृ. 271
7. नाच्यौ बहुत गोपाल, अमृतलाल नागर, पृ. 271
8. छप्पर, जयप्रकाश कर्दम, पृ. 67

सहायक प्राध्यापक (हिंदी विभाग), रयत शिक्षण संस्था का राधाबाई काळे महिला महाविद्यालय, अहमदनगर, जि.अहमदनगर ( महाराष्ट्र )

##### सन्दर्भ-

1. योजना, मासिक पत्रिका, जनवरी 2014, पृ. 43
2. नैथानी (डॉ.) शिवप्रसाद, नैथानी मोहन: उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूगोल, पृ. 395
3. उत्तराखण्ड मुक्त वि.वि. हल्द्वानी : उत्तराखण्ड का राजनैतिक इतिहास, पृ. 316-17
4. मैथानी (प्रो.) डी.डी., प्रसाद, डॉ. गायत्री, नौटियाल डॉ. राजेश: उत्तराखण्ड का भूगोल, पृ. 135
5. उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूगोल, पृ. 399
6. जोशी धनश्याम, उत्तराखण्ड का राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 172
7. बलूनी (डॉ.) दिनेश चन्द्र, उत्तरांचल, संस्कृति, लोकजीवन, इतिहास एवं पुरातत्व, पृ. 58
8. उत्तराखण्ड का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूगोल, पृ. 403
9. उत्तराखण्ड का राजनैतिक इतिहास, पृ. 318
10. योजना, मासिक पत्रिका, जनवरी 2014, पृ. 8-9

शोध छात्र, इतिहास विभाग, डी.एस.बी. कैम्पस, नैनीताल

#### पृ. 41 का शेष भाग.....

##### सन्दर्भ-

1. वैचारिकी : शचीरानी गुर्तू, आत्माराम एण्ड संस कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ. 209
2. साहित्यिक निबन्ध, गणपति चन्द्रगुप्त, लोक भारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 579
3. भारतीय साहित्य, डॉ. लक्ष्मीकान्त पाण्डेय एवं डॉ. प्रमिला अवस्थी, ज्ञानोदय प्रकाशन, कानपुर, पृ. 48
4. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, बच्चन सिंह राधाकृष्ण प्रकाशन, अंसारी मार्ग, नई दिल्ली, पृ. 464
5. सामाजिक क्रान्ति के दस्तावेज, शम्भूनाथ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 128

ग्रा. एवं पो. रघुनाथपुर, जनपद-शाहजहाँपुर, 242220

---

## मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास साहित्य में नारी-विमर्श

डॉ. प्रिया श्रीवास्तव

नारी विमर्श से तात्पर्य है-नारी के सन्दर्भ में विचार विमर्श करना, विमर्श का अर्थ है- सलाह, मशवरा। हिन्दी साहित्य की एक नई धारा स्त्री-विमर्श को अपनी रचना का मुख्य आधार बनाने वाली लेखिकाओं में मैत्रेयी पुष्पा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी रचना का आधार स्त्री चेतना को बनाया है। पुरुष ने स्त्री पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए उसे उसकी शक्ति को समझने का मौका नहीं दिया। पुरुष समाज उसे कभी देवी का दर्जा देता है तो कभी कुलटा सिद्ध करता है ताकि पुरुष स्त्री पर पूर्णतः अधिकार प्राप्त कर सके। पुरुष के लिए तो स्त्री केवल गुलाम है। वह पुरुषों के द्वारा मानसिक गुलामी का शिकार होती रही है। वह स्त्री को अपनी निजी सम्पत्ति समझता रहा है। उसके लिए स्त्री जीवन का तात्पर्य पुरुष की सेवा करने मात्र है। वह स्त्री को अपने समतुल्य नहीं समझता। पुरुष स्त्री की गुलामी को तोड़ना नहीं चाहता किन्तु स्त्री अब जाग्रत हो रही है, स्त्री ने अब चुप रहना छोड़ दिया है।

मैत्रेयी पुष्पा मानती हैं कि आज की स्त्री बाहरी संसार से लड़ने, अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए स्वतन्त्र है। आज नारी अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। वह अब अपनी नैसर्गिक इच्छाओं का दमन नहीं करती। वह खुद अपने रास्ते का चुनाव करती है। उसके लिए अपनत्व से बढ़कर अस्तित्व महत्त्वपूर्ण हो गया है। स्त्री की इस बदलती तस्वीर के सन्दर्भ में मैत्रेयी लिखती हैं- “अस्तित्व से व्यक्तित्व की ओर बढ़ने वाली .....स्त्री अपनी राह खुद तय करने लगी, मनुष्य होने के नाते मुझे भी स्वतन्त्रता और सम्मान से जीने का अधिकार है। मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी कृतियों में स्त्री की बदलती छवि को यथार्थ रूप में चित्रित किया है। ‘चाक’ उपन्यास की सारंग अपनी इच्छाओं को उजागर करने से घबराती नहीं है, न ही पति के अतिरिक्त पर-पुरुष से सम्बन्ध स्थापित करने को अनैतिक मानती हैं। आज स्त्री का अस्तित्व परिवर्तित हो रहा है। जिसको मैत्रेयी पुष्पा अपने उपन्यास ‘चाक’ की ‘सारंग’, ‘इदन्नमम्’ की ‘मन्दा’ और आगनपाखी की ‘भुवन’ के माध्यम से व्यक्त करती हैं। स्त्री के बदलते स्वरूप के सन्दर्भ में मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं- मैं पलकें उठाकर देखती हूँ वास्तव में ही यह एक

खौफनाक सच को उजागर करता हुआ समय है। यदि नहीं होता तो बार-बार मरती हुई चेतना और सहती-सहमती हुई अस्मिता के खिलाफ उठी चली आती फैसला की वसुमति? सामाजिक विषमताओं और आर्थिक शोषक वर्ग को चुनौती देती ‘इदन्नमम्’ की ‘मन्दा’? और उसी से कदम मिलाती हुई जातिगत और राजनीतिक दलालों से सिंहासन छीनने का इरादा किया है। ‘चाक’ की ‘सारंग नैनी’ ने। “अंतः मैत्रेयी पुष्पा का मानना है। कि ‘पुरुष’ द्वारा रचा साहित्य अपनी सारी करुणा और सहानुभुति के बावजूद पुरुषवादी मानसिकता से ग्रस्त है- पुरुष चाहे समाज में हो या साहित्य में। इतिहास की लम्बी प्रक्रिया में वह देह तक ही भटकता रहा है।

20वीं शताब्दी के अंतिम दशक में चर्चित कथाकार मैत्रेयी पुष्पा समकालीन ‘स्त्री विमर्श’ की सशक्त हस्ताक्षर हैं, जिन्होंने अपने कथात्मक लेखन से इस विमर्श को एक नया आयाम प्रदान किया है। ‘बेतवा बहती रही’ से लेकर ‘त्रिया हठ’ तक उन्होंने जिस तरह शोषण के बहुरूपों को उजागर किया है, वह अपने आप में एकदम नवीन तथा अति विशिष्ट हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मैत्रेयी पुष्पा ने स्त्री शोषण के अंतहीन सिलसिलों का वर्णन करने के साथ ही स्त्री मुक्ति के सपनों का खाका भी प्रस्तुत किया है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में स्त्री-विमर्श का जो स्वरूप मिलता है। उसके तीन महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं- शोषण के विविध रूप, मुक्ति के स्वप्न और बदलती परिस्थितियों के अनुसार मुक्ति के स्वप्न।

मैत्रेयी पुष्पा के समग्र उपन्यास में ये तीनों गुण विद्यमान हैं। ‘चाक’ की सारंग, आगनपाखी की भुवन, इदन्नमम् की मन्दा, अल्मा कबूतरी की अल्मा, विजन की डॉ. नेहा ऐसी ही नारी पात्र हैं जो विविध शोषण की शिकार होती हैं साथ ही मुक्ति के स्वप्न को लिए हुए अन्याय के विरुद्ध खड़ी ही नहीं वरन् विद्रोह की आवाज़ भी उठाती हैं। साथ ही बदलती परिस्थितियों के अनुसार मुक्ति का स्वप्न देखती हुयी पुरुष वर्चस्व को चुनौती देती हुयी स्वयं आगे खड़ी होती हैं।

शेष भाग पृ. 52 पर.....

---

## अभिमन्यु अनत के उपन्यासों में नारियों का बदलता स्वरूप

रुबी यादव

विश्व की सभी संस्कृतियाँ पुरुष प्रधान रही हैं। इसी वजह से सांस्कृतिक व्यवस्था में नारी को दूसरे दर्जे का स्थान दिया गया है। सभी संस्कृतियों में नारी को एक जैविक वस्तु के रूप में देखा गया और पुरुष के हितों को ध्यान में रखा गया। जाने-अनजाने नारी पर अन्याय होता रहा। इसी अन्याय के कारण अनेक शताब्दियों से नारी पीड़ित रही है।

विश्व के सभी देशों में नारी की स्थिति वहाँ की परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार बदलती रही है। लेकिन इस बदलती हुई स्थितियों में भी उनका दमन एवं शोषण लगातार होता रहा है। नारी को वही मिला जो पुरुष ने देना चाहा। आधुनिक काल में वैज्ञानिक विकास के कारण समाज व्यवस्था में तेज़ी से परिवर्तन हो रहा है। पुराने मूल्य टूटने लगे हैं। चारदीवारी में बंद नारी ने अपने लिए प्रगति के द्वार खोल दिए हैं। वह हर क्षेत्र में आगे बढ़ रही है। जिसके फलस्वरूप नारी में नई चेतना विकसित हुई है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक की नारी अपने अस्तित्व को पहचान देना चाहती है। उसने परम्परागत पुरुष व्यवस्था को चुनौती दी है।

नारी पुरुष को जन्म देने वाली होती है किन्तु पुरुष ने सदा से उसे कमजोर माना है और उसे उसके अधिकार से वंचित रखने का प्रयास किया है। भारत वर्ष में एक समय उतना ही महत्त्व था जितना पुरुष का, कम-से-कम धार्मिक स्तर पर इसलिए उसे पुरुष की अर्धांगिनी की संज्ञा दी गई थी और स्त्री के अभाव में पुरुष का कोई धार्मिक अनुष्ठान पूर्व नहीं माना जाता था। सीता जी को वन में भेजने के पश्चात् श्रीराम को उनकी प्रतिमा को साथ में बैठाकर अपने यज्ञ की पूर्ति करने की विवशता हो गई थी। उन दिनों हिन्दुस्तान की संस्कृति ही वैसी थी।

विदेशी आक्रमणों के साथ जौहर की प्रथा आ गई और स्त्रियों को पति के साथ ज़िन्दा जलाने की नई हृदयहीन निष्ठुर परंपरा आ गई। इसके साथ-बाल-विवाह की प्रथा आई तथा विधवा-विवाह वर्जन इत्यादि कुरीतियाँ भी आकर जुड़ गई। स्त्री ने सब कुछ चुपचाप सहन कर लिया। उसे घुंघट के भीतर मुँह छिपाकर तथा दीवार के पीछे रखा गया, उसने उसे भी सहन

कर लिया एक पुरुष को कई औरतों से शादी करने की आज्ञा दे दी गई और वह सहती गई, उसे कुछ बोलने का अधिकार नहीं दिया गया था।

पश्चिम में भी स्त्रियों की स्थिति इससे बहुत अच्छी नहीं थी, हालांकि उसे जौहर करने के लिए विवश अथवा पुनर्विवाह के लिए वर्जित ही किया गया था। शिक्षा के विकास के साथ पश्चिम की नारी की आँखें खुली। उसने साहस करके पुरुष के बनाये नियमों का विरोध किया। वर्तमान समय में नारी ने जो उन्नति की है, उसके पीछे पाश्चात्य की नारियों का मार्गदर्शन का कार्य करता है। नतीजा यह हुआ कि आज की नारी साहस सम्पन्न हो गई है। 'मुड़िया पहाड़ बोल उठा की नेहा के शब्दों में मुझे यह गवारा नहीं कि मर्दों की तरह बराबर काम करके मर्दों को आधी से कम तनखाह मिले।'

इस कथन में एक शिक्षित और विश्वास की दृढ़ता वाली नारी रही है।

मध्ययुग के हिन्दुस्तान में गलत काम करने वाली स्त्रियों को पाप की गठरी माना जाता था। रामचरित मानस में तो ताड़का, मंथरा, शूर्पणखा जैसी औरतों को पशु नारी तक कहा गया है।

अभिमन्यु का विचार है 'औरत पाप की जिम्मेदार नहीं होती, क्योंकि जिसे तुम पाप कहते हो, वह औरत के ऊपर जबरदस्ती लादा गया है। मेरा विचार है कि संसार में 'पशु नारी' सदा रही है और आज के जमाने में उनकी संख्या अधिक है। परन्तु उसे पशु बनाने का दायित्व खूंखार 'पशु नरन' का ही है। बहुत समय तक दबाते रहने पर कोमल वस्तु कठोर हो ही जाती है। नारी तो समाज में रहकर पुरुष के साथ चलने-फिरने वाली होती है। आज जब शिक्षा का इतना विकास हो गया है। तब भी यूरोप को छोड़कर सर्वत्र नारी को उसके बहुत अधिकारों से वंचित रखा जाता है।

'लाल पसीना' में उन नारियों का उल्लेख हुआ है। जो भारत से आई हुई थीं तथा जिनका जन्म मॉरिशस में हुआ था। किन्तु चाल-चलन की दृष्टि से वे पूर्णतः भारतीय नारियाँ हैं। भारत से आने वाली स्त्रियों का चेहरा घुंघट के भीतर रहने वाला

है। रघुसिंह ने किसन की माँ की पातली देखकर उससे शादी की थी। यहाँ जन्म लेने वाली लड़कियों ने घूँघट का रिवाज उठा दिया और उनमें कई हैं जो कुछ स्वच्छन्द घूमने वाली मिलती हैं। पुष्पा किसन का हाथ पकड़कर चलती है और सब्या तो रात्रि के समय अपना घर छोड़कर किसन से मिलने आ जाती है।

‘गाँधी जी बोले थे’ ‘और पसीना बहता रहा’ एवं ‘लहरों’ की बेटी की स्त्रियों का जन्म मॉरिशस में ही हुआ था। ये भी उसी विचारधारा की औरतें हैं जो ‘लालपसीना’ में हैं। अन्तर इतना अवश्य है कि इन पुस्तकों की नारियाँ कुछ अधिक स्वतन्त्र लगती हैं। मीरा जीवन भर मदन की प्रेयसी बनकर रहती है। सीमा विवाह से पूर्व प्रकाश से प्रेम संबंध रखती है। सीता मदन और विवेक दोनों को चाहती थी परन्तु उसका विवाह विवेक से होता है। विदुला छोटी उम्र में ही पंकज से प्रेम करती है। प्रभा, अनुराधा सबको किसी युवक से प्रेम करते हुए बताया गया है। यह सब अपने काल के अनुकूल न होने पर भी उद्देश्यहीन नहीं हैं।

उन पुराने दिनों की लड़कियों को युवकों के साथ प्रेम संबंध का वर्णन करके अभिमन्यु लड़कियों के मुक्त-प्रेम के पक्ष में लगते हैं। शान्ति और गौतम, राजेश और धनेश्वरी, नेहा और उमेश तथा गीतेश के साथ इस विचार की पुष्टि होती है। ‘और पसीना बहता रहा’ में वह कहते भी हैं, ‘लड़कियों को बेबस ही नहीं किया जाता, धमकियाँ दी जाती हैं। मेरी माँ ने मुझे यहाँ तक कह दिया कि यदि मैं उसकी बात न मानूँ तो वह समन्दर में जान दे देगी। लड़कियों की स्थिति का वास्तविक सत्य यही है। माता-पिता को जो लड़का पसन्द आता था, लड़की का ब्याह उसी के साथ कर दिया जाता था। कुछ लोग आज जीवित हैं, जिनमें शादी से पूर्व न लड़के ने लड़की को देखा था, न लड़की ने लड़के को।

आज से पचास, साठ वर्ष पूर्व तक भारत वंशियों के बीच नारी के प्रति जो धारणा बनी हुई थी, अभिमन्यु ने स्वयं ‘और पसीना बहता रहा’ में निम्नलिखित शब्दों में दिया है। देखिए ‘हरि को आज पहली बार ऐसा लगा कि यह समाज की विडम्बना है कि मर्द पाँच घंटे काम करके स्वयं को परिवार का पालन-पोषण करने वाला मान लेता है लेकिन घर में जो औरत पन्द्रह-बीस घंटे काम करती है, वह उस मेहनत के लिए एक पैसे की हकदार नहीं समझी जाती। मर्द काम से लौटाने के बाद थका-माँदा माना जाता है। उसके लिए आराम और सेवा ज़रूरी होती है। लेकिन घर में काम करके औरत जैसे थकती ही नहीं। अगर उसे भी थकान के एहसास का अधिकार मिला होता तो फिर मर्द के हाथ-पैव दबाने का फर्ज कौन निभाता ?

‘और नदी बहती रही।’ एवं ‘एक बीघा प्यार’ की नारियों का अधिक नवीनीकरण नहीं हुआ है। वे भी पुरानी परंपरा के बोझ से दबी हुई नारियाँ हैं। ‘लहरों की बेटी’ में दुलारी विधवा है। परन्तु वह पुरानी परंपरा का विरोध करके नये सिरे से अपना घर बसाना चाहती है। यद्यपि कारणवश लखन से उसकी शादी नहीं हो पाती, वह लखन की विधवा के रूप में उसकी सन्तानों के पीछे अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती है। अपनी सारी ममता, अपनी सम्पूर्ण आर्द्रता-उदारता से वह लखन के पुत्र, जीवनदत्त और उसकी पुत्री, विदुला के जीवन को रंगीन कर देती है। ऐसी समर्पित और को वही हासिल होता है जो सामान्यतः औरतों को उस जमाने में मिलता था जीवनदत्त की खुदगर्जी के कारण उसे अलग होकर अपने पुराने घर में जाकर रहना पड़ता है।

‘शेफाली’, ‘अपनी ही तलाश’, ‘मुड़िया पहाड़ बोल उठा’ एवं ‘चलती रहे अनुपमा’ की नारियाँ देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् की नारियाँ हैं। अँद्रेआ और मोना मिश्रित रक्त की औरतों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो अपने पति के सामने अथवा छिपकर पर पुरुष के साथ संबंध रखती हैं। एक तरफ व्यावसायिक लोलुपता, स्वार्थ की प्रतिमूर्ति मिला है तो दूसरी तरफ अपने ही अशौच पंकिल कर्म की लज्जा से आवृत्त स्वयं को अस्पृश्य की भाँति अनुभूति करके शेफाली मुक्ति-पथ में पदार्पण करके शान्ति की साँस लेने की कोशिश में लगी हुई स्त्री है। इसके विपरीत मीरा और दुलारी निस्पृह निःस्वार्थ प्रेम, अनाबद्ध आत्म-समर्पण, अतुल त्याग, अविच्छिन्न बलिदान तथा (परहित सरिस धरम नहीं) की पताका हाथ में लेकर बढ़ने वाली प्रतिमाएँ हैं। नेहा, विदुला और अनुपमा अदम्य साहस, अभूतपूर्व मनोयोग, अथक कर्मनिष्ठा की दृष्टि करने वाली अप्रतिम नारी-विभूतियाँ हैं।

अभिमन्यु नारी को सिर्फ चूल्हा फूँकने वाली नियतिवादी नारी के रूप में देखना नहीं चाहते। वह चाहते हैं कि नारी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप प्रेयसी और माँ अवश्य बने, किन्तु वह भीड़ के बीच खो जाने वाली नारी न रहे। वह दुलारी की भाँति ममता के अमृत से आप्लावित रहे और विदुला की भाँति साहसी और कर्मण्य बने। वह पुरुष को बता दे कि वह उसे बिल्कुल पीछे नहीं है। वह मौका मिलने पर पुरुष को पछाड़ सकती है। विदुला पंकज के वियोग में टूट भी जाती है। परन्तु वह अपने कर्तव्य को ध्यान में रखकर प्रतियोगिता में विजय प्राप्त करती है। वह मछली फँसाने के काम में बड़े-बड़े अनुभवी माहिर लोगों को वह परास्त कर देती है। वह सिर्फ अपना ही नहीं, अपने परिवार एवं सम्पूर्ण कात्रसेर गाँव का मस्तक गर्व से ऊँचा करती है।



अचित्रित उपन्यास में वानी, भीड़ में खो जाने वाली नारी होने के बावजूद, अपने अंध स्वार्थ में आपूरित प्रीतम के जाल में फँसकर भी बच निकलती है। वह देश की स्वतन्त्रता का अर्थ नहीं समझती। वह तो हरजाई है। कोई व्यक्ति दाम देकर उसके साथ कामाग्नि को शान्त कर सकता है। उसे देश की आज़ादी या बन्धन से क्या लेना-देना? बावजूद उसके मूलतः वह एक आर्द्र कोमल नारी ही तो है। वह नौरतन नाम के व्यक्ति के शब्द सुनकर वह अपना विचार बदल देती है। नौरतन को नष्ट करने तथा देश की आज़ादी के मार्ग में अपने ही बिछाये हुए जाल को ध्वस्त कर देती है। इतने ऊँचे ख्याल की नारी के रूप में वह परिवर्तित हो जाती है कि भीड़ में खोकर भी अपना अलग अस्तित्व बना लेती है।

‘मुड़िया पहाड़ बोल उठा’ उपन्यास की नायिका नेहा से उपन्यास का प्रारम्भ है। नेहा प्रारम्भ में एक गरीब परिवार की असहाय, समर्थविहीन भीड़ में खो जाने वाली कन्या के रूप में प्रकट होती है वह परिवार की अर्थ विपन्नता की मजबूरी के कारण वह गार्मेंट फैक्टरी में काम करने लगती है। वह बहुत शिक्षित भी नहीं है। वह अत्याचार एवं शोषण को सहन नहीं करती। वह फैक्टरी में काम करने वाली सभी महिलाओं का पक्ष लेती है और खुद को इतना बुलन्द करती है कि देश की सरकार और कई गार्मेंट फैक्टरियों के मालिक हतप्रभ हो जाते हैं। धमकी या प्रलोभन उसको तस से मस नहीं कर पाते। अन्त में वह इतना ऊपर उठ जाती है कि अरूण और अपने स्वार्थी मंगतेर, उमेश के चरित्रों को दबा देती है। वह एक मिसाल

कायम करती है। वह अपने साथ ही अन्य महिलाओं को भी ऊँचा उठाती है।

अतः समग्र रूप में अभिमन्यु अनत द्वारा चित्रित नारियों का यही रूप है। लेखक ने हर प्रकार की नारी का चित्र उपस्थित किया है। नारी को उदार दृष्टि से ही देखा है। वह नहीं चाहते कि नारी दासी बनकर पुरुष के पैर की जूती बनी रहे। उनका विचार है कि नारी को भी पुरुष की भाँति मुक्ति की ज़रूरत है। अनत ने नारी के अन्तर्मन में बैठकर उसकी मनोहर पुष्पित भावनाओं को उभारने में सफलता प्राप्त की है। वह नहीं चाहते कि नारी पुरुष की इच्छा पूर्ति की सामग्री बनी रहे। वह नारी को पुरुष की स्निग्ध प्रेयसी बनकर भी बच्चों को जन्म देने वाली माँ होकर भी उसके स्वतन्त्र अस्तित्व की कामना करते हैं। वह चाहते हैं कि नारी पुरुष को चुनौती देने वाली के रूप में अपने को बुलन्द करने में सक्षम हो सके।

#### सहायक ग्रंथ-

1. साठोत्तरी हिन्दी लेखिकाओं की कहानियों में नारी
2. अभिमन्यु अनत, जगत एक समीक्षा, प्र. सं. 2001
3. अभिमन्यु अनत, अचित्रित
4. शोधश्री शोध पत्रिका -सम्पादक प्रो. शर्मिला सक्सेना
5. मॉरिशस के हिन्दी उपन्यासों का मूल्यांकन, डॉ. हेमराज निर्मम, प्रथम संस्करण 1997

#### शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, दयाल बाग एजूकेशनल इन्स्टीट्यूट आगरा

#### पृ. 49 का शेष भाग.....

आज वर्तमान में जैसे-जैसे समाज का विकास हुआ, वैसे-वैसे ही मनुष्य की महत्त्वकाक्षाएँ भी बढ़ती चली गयी कल तक जो स्त्री अपने लिए थोड़ी-सी जगह पाकर सतुष्ट थी, आज वह अपने लिए पूरा आकाश माँगने लगी हैं। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास के नारी पात्र मन्दाकिनी, सारंग, रेशम, अल्मा, भुवन, डॉ. नेहा, रज्जो आदि नारी पात्र बदलती परिस्थितियों के अनुरूप मुक्ति के सपने पाले हुए हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नारी को पुरुष से मुक्ति नहीं, पुरुष मानसिकता से मुक्ति चाहिए। जब तक स्त्री पुरुष मानसिकता से मुक्त नहीं होगी तब तक उसकी अस्मिता बेमानी होगी। एक चीनी कहावत भी है कि पुरुष को शिक्षित करो तो एक जन शिक्षित होता है, पर स्त्री को शिक्षित करो तो पूरा वंश शिक्षित होता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि स्त्री

को सही तरह मुक्ति दो, तो पूरा वंश मुक्त होता है। इसके माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा कहना चाहती हैं। कि स्त्री के अस्तित्व को उसके पुरुष से जुड़े सम्बन्धों तक मानवता का एक अभिन्न तथा अनिवार्य और पूरक तब माना जाये। जन्मजात उसे अनुचरी नहीं बल्कि सच्चे अर्थों में सहचरी के रूप में प्रेरित परिभाषित और प्रोत्साहित किया जाये।

#### सहायक ग्रंथ-

1. महिला उपन्यासकार (21वीं शताब्दी की पूर्व सन्ध्या के सन्दर्भ में) डॉ. मधु सन्धु, संस्करण-2000
2. स्त्री परम्परा और आधुनिकता, राजकिशोर, 2005
3. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, सं. 2009
4. इदन्नमम, मैत्रेयी पुष्पा, प्रथम सं. 1994
5. अल्मा कबूतरी, मैत्रेयी पुष्पा, प्रथम सं. 2000

## हिन्दी की सामासिक संस्कृति की परंपरा में 'पद्मावत' और वर्तमान समय

यूसुफ अली

हिन्दी भारत के बहुसंख्यक लोगों की भाषा है जिसे भारत की राष्ट्रभाषा, राजभाषा और सम्पर्क भाषा होने का गौरव प्राप्त है। हिन्दी पाँच उपभाषाओं और 18 बोलियों का समूह है। जिसकी बोलियाँ अलग-अलग प्रांतों और क्षेत्रों में बोली जाती हैं। वाक्य की संरचना एक होते हुए भी, इसमें प्रयोग होने वाले शब्द और क्रिया अलग-अलग होती हैं। कभी-कभी लगता है कि हिन्दी की बोलियाँ दो अलग-अलग भाषाएँ हैं लेकिन वास्तविकता ये नहीं है। क्योंकि अलग-अलग बोली होते हुए भी ये हिन्दी की बोली ही कहलाती है अर्थात् हिन्दी कहलाती है- “हिन्दी वास्तव में किसी एक ही भाषा अथवा बोली का नाम नहीं है, अपितु एक सामासिक भाषा परम्परा की संज्ञा है जिसका आकार प्रकार विभिन्न उपभाषाओं और बोलियों के ताने-बाने द्वारा निर्मित हुआ है इस प्रकार हिन्दी एक भाषा समष्टि का नाम है।”<sup>1</sup>

सामासिक संस्कृति से अभिप्राय है कि मान्यताएँ और परंपराएँ बेशक अलग-अलग हो लेकिन सामासिक दृष्टि से वे एक दूसरे से अभिन्न दिखाई देती हो। हिन्दी की 18 बोलियाँ अलग-अलग होते हुए भी अभिन्न हैं। यही अनोखापन हिन्दी की पहचान और यही हिन्दी की ताकत है। इस प्रकार हिन्दी प्राकृतिक रूप से ही सामासिक है- “इन्हीं बोलियों और उपभाषाओं का सामूहिक नाम हिन्दी है। इनकी सामूहिकता इनकी सामाजिकता का प्रमाण ही तो है।”<sup>2</sup>

हिन्दी के सामासिक रूप को हम, हिन्दी की प्रकृति में ही नहीं, बल्कि हिन्दी के मुहावरों और लोकोक्तियों में भी देख सकते हैं क्योंकि किसी भी भाषा के मुहावरे और लोकोक्तियाँ उसे विरासत रूप में प्राप्त उसकी निजी सम्पत्ति होते हैं। ये किसी धर्म, सम्प्रदाय, जाति या क्षेत्र की सम्पत्ति नहीं होती। सम्पत्ति होती है, केवल उस भाषा की और उसके प्रयोग कर्ता की। जिनको प्रयोग से भाषा में जीवन्तता, मौलिकता और प्रभावशीलता आती है। “मुहावरे और लोकोक्तियाँ किसी भी जीवित भाषा का प्राण होती हैं। ये जनसामान्य की अभिव्यक्ति का समान रूप से माध्यम होती हैं। किसी वर्ग विशेष की नहीं।”<sup>3</sup>

यदि हम हिन्दी के मुहावरे और लोकोक्तियों पर दृष्टिपात करें तो ये हिन्दी की सामासिक संस्कृति के प्रमाण के रूप में हमारे सामने आते हैं। जो भारत के किसी विशिष्ट धर्म, जाति, सम्प्रदाय या क्षेत्र के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए समान है जैसे- कफन सिर पर बाँधना<sup>4</sup> छठी का दूध याद आना<sup>5</sup> पलक बिछाना<sup>6</sup> बहती गंगा में हाथ धोना<sup>7</sup> कहाँ राजा भोज, कहाँ गंगू तेली<sup>8</sup> मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक<sup>9</sup> ईद का चाँद होना,<sup>10</sup> गये थे नमाज छुड़ाने, रोजे गले पड़ गये आदि।<sup>11</sup>

ऐसे अनेक मुहावरे और लोकोक्तियाँ हिन्दी की सामासिक संस्कृति के प्रमाण हैं। इन्हें हिन्दू और मुसलमान सभी धर्म के लोग बोलते हैं सभी धर्मों को जोड़कर चलना ही सामासिक संस्कृति का मूल है। “यह (हिन्दी) भाषा केवल भाषा नहीं अपितु संस्कारों, संस्कृतियों, धार्मिक परम्पराओं एवं मान्यताओं को समाहित करते हुए समरसता के साथ समसामायिक, चिंतनबोध एवं समग्रता की अधिष्ठात्री भी है। यही इसकी सामासिकता का प्रमाण है।”<sup>12</sup>

क्योंकि सामासिक संस्कृति का मूल उद्देश्य समाज को समरस अर्थात् एकता के सूत्र में बाँधना है। किसी भी देश या समाज में कितने ही धर्म, सम्प्रदाय, जाति, क्षेत्र, भाषागत विभिन्नता वाले अनुयायी रहते हो लेकिन उनके समक्ष ऐसी मान्यताओं और विचारों को रखना जिससे सम्पूर्ण समाज में समरसता स्थापित हो जाए।

अब हमें हिन्दी भाषा की सामासिक संस्कृति के सन्दर्भ में, हिन्दी साहित्य पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि किसी भी भाषा का साहित्य से अटूट सम्बन्ध होता है। साहित्य ही भाषा की अमूल्य निधि होता है। जो सदियों तक भाषा को सुरक्षित रखता है। अगर हम हिन्दी साहित्य को सामासिक संस्कृति के नज़रिये से देखें तो इसका बीज रूप हमें आदिकाल में ही दिखाई देने लगता है। आदिकाल में ही सिद्धों, जैनों, नाथों, संतों ने हिन्दी भाषा में ही जनता को एकता का संदेश दिया। जिसकी वजह से विभिन्नता के बावजूद समाज में एकता बनी रही। आदिकालीन कवि अमीर खुसरो की पहलियाँ

और मुकरियाँ इसका प्रमाण है। इनका ऐसा जादू चला कि वे सर्वसाधारण की कण्ठहार बन गयी और आज तक बनी हुई हैं। जिन्होंने सभी ऊँच-नीच, जाति, धर्म, सम्प्रदाय के भेद मिटा दिये। इस सन्दर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं कि-“खुसरो के कृतित्व से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर होता है कि हिन्दी का चरित प्रारम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा है, वह सामासिक संस्कृति की सच्ची रचना है।”<sup>13</sup>

हिन्दी की सामासिक संस्कृति की परंपरा अमीर खुसरो तक ही नहीं सिमटती बल्कि वह मध्यकाल में गुरुनानक, कबीर, सूरदास, तुलसीदास, मीरा, जायसी, कुतुबन, मंझन, उस्मान, नूर मोहम्मद, रसखान आदि ने समाज में धार्मिक सहिष्णुता, सौहार्द और प्रेम का उपदेश देकर सामासिक संस्कृति को बनाये रखा-“हिन्दी की सामासिक समरसता का इससे विलक्षण उदाहरण क्या हो सकता है कि अब्दुल रहीम खानखाना ने अपनी साहित्यिक इबादत कृष्ण-भक्ति के रूप में अदा की और भारतीय जनमानस में तुलसीदास की तरह रहीमदास के रूप में प्रतिष्ठित हुए।”<sup>14</sup>

सामासिक संस्कृति के सन्दर्भ में हिन्दी सूफ़ी कवियों का तो अपना अलग ही स्थान है क्योंकि सूफ़ी कवियों ने प्रेम का सन्देश दिया। इन कवियों ने हिन्दुओं के घर की प्रेम कथाओं के द्वारा हिन्दू और मुस्लिमों को पास लाने का प्रयास किया और दो अलग-अलग धर्मों के मध्य भावात्मक एकता स्थापित करने का प्रयास किया। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि-“हिन्दू और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।”<sup>15</sup>

हिन्दी सूफ़ी कवियों ने न केवल दो धर्मों को पास लाने में अहम् भूमिका निभायी बल्कि दो अलग-अलग संस्कृतियों का समन्वय भी किया और मिश्रित संस्कृति का सूत्रपात किया। सूफ़ी कवियों का मूल स्रोत सूफ़ीवाद है- “सूफ़ी मतवाद और उसके प्रतिनिधि सूफ़ियों ने भारत में भावात्मक एकता के साथ-साथ मिश्रित सांस्कृतिक परंपराओं का भी सूत्रपात किया।”<sup>16</sup>

हिन्दी सूफ़ी कवियों (कुतुबन, मंझन, जायसी, मुल्ला दाऊद, नूर मोहम्मद) ने अपने प्रेमाख्यानकों (क्रमशः, मृगावती, मधुमालती, पद्मावत, चन्दायन, अनुराग बाँसुरी) में फारसी मसनवी शैली के साथ भारतीय साहित्यशास्त्र का भी समन्वय किया। इन्होंने मसनवी शैली और भारतीय छन्द, दोहा-चौपाई का कलात्मक संगम किया। इस प्रयोग से न केवल कथा के स्तर पर बल्कि शैली के स्तर पर भी धर्म और क्षेत्र की दीवारे टूट गयी। वास्तव में हिन्दी सूफ़ी प्रेमाख्यानकों ने हिन्दू-मुस्लिम का भेद मिटाने में अहम् किरदार निभाया- प्रेमाख्यान काव्य

सरस रचना में नागर। हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव मेटन में आगर।<sup>17</sup>

यहाँ हमारा विचारणीय बिन्दु, हिन्दी की सामासिक संस्कृति की परंपरा में, पद्मावत का क्या स्थान है? पद्मावत में सामासिक संस्कृति किस रूप में आयी है? तथा किन कारणों से पद्मावत को सामासिक संस्कृति की अनूठी कृति कही जा सकती है? इस शोध पत्र में इन्हीं प्रश्नों के जवाब तलाशने की कोशिश की गयी है।

पद्मावत मलिक मुहम्मद जायसी की ख्याति प्राप्त कृति है। इसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन एवं सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती की प्रेम कथा का वर्णन है। मुस्लिम होते हुए जायसी ने प्रेम कथा को इस काबिले तारिफ से पेश किया है कि कहीं, इस्लाम या सूफीवाद का अंध प्रचार करते हुए नहीं दिखाई देते और न कहीं धर्म की दीवार खड़ा करते दिखाई देते। अगर दीवार खड़ा करते दिखाई देते हैं, तो केवल मानवता की। जिसमें भारतीय संस्कृति की आत्मा अर्थात् सामासिक संस्कृति रची बसी है। वास्तव में “जायसी ने भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों से ओतप्रोत करके सम्पूर्ण काव्य को एक ऐसा रमणीय रूप प्रदान किया है कि जिसके फलस्वरूप इस काव्य में साम्प्रदायिकता की गन्ध नहीं आती।”<sup>18</sup>

पद्मावत में सामासिक संस्कृति कृत्रिम रूप में नहीं आती बल्कि वास्तविक रूप में हमारे सामने आती है। जिसकी वजह भारतीय समाज की अपनी अलग पहचान है और विभिन्नता के बावजूद एकता की भावना दिखाई देती है। इसी रंग में जायसी रंगे हुए हैं। जिसका प्रभाव हमें उनके काव्य (पद्मावत) में दिखाई देता है- “मलिक मुहम्मद (जायसी) की शाइरी में हमें हिन्दू-मुस्लिम कल्चर का संगम अच्छी तरह दिखाई देता है।”<sup>19</sup>

तत्कालीन समय में समाज हिन्दू और मुस्लिम धर्मों में बँटा हुआ था। जिनके बीच निरन्तर कड़रता पनप रही थी। इसी को देखते हुए जायसी ने पद्मावत में प्रेम का सन्देश दिया, क्योंकि अनादिकाल से प्रेम भावना मानव की सर्वाधिक प्रिय भावना रही है। जिसने धर्म, सम्प्रदाय और क्षेत्रवाद की दीवारे तोड़ी है और प्रेम के बिना मानव जीवन बेकार है। प्रेम के द्वारा मानव परमात्मा को भी प्राप्त कर सकता है। इसी का पद्मावत में संदेश दिया गया है- “मानुस पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह छार एक मूठी।”<sup>20</sup>

पद्मावत की प्रेम पद्धति पर भारतीय-फारसी पद्धति का समन्वित प्रभाव दृष्टिगोचर होता है फारसी पद्धति के अनुसार जायसी ने प्रेमी (आत्मा) प्रेमिका (परमात्मा) के रूप में दिखाया है। जिसमें प्रेमी, प्रेमिका की प्राप्ति के लिए अधिक व्याकुल तथा प्रयत्नशील है जबकि भारतीय पद्धति में प्रेमी (परमात्मा), प्रेमिका (आत्मा) के रूप में दिखाया जाता है जिसमें प्रेमिका,

प्रेमी की प्राप्ति के लिए अधिक व्याकुल तथा प्रयत्नशील दिखाई जाती है, लेकिन पद्मावत के प्रारंभ में फारसी प्रभाव है जिसमें प्रेमिका (पद्मावती) की प्राप्ति के लिए प्रेमी (रत्नसेन) अधिक व्याकुल तथा प्रयत्नशील है। लेकिन जायसी ने पद्मावत में भारतीय पद्धति का समन्वय करते हुए पद्मावत के अन्त में प्रेमी की प्राप्ति के लिए, प्रेमिका की व्याकुलता और प्रयत्नशीलता दिखायी है। जिसमें पद्मावत की नायिका पद्मावती की व्याकुलता को देखा जा सकता है-पद्मावति तेहि जोग सँजोगा। परी पैम बस गहें बियोगाँ।।/नींद न परें रेनि जौ आवा। सेज केवाँछ जानु कोइ लावा।।/दहै चाँद औँ चंदन चीरू। दगध करै तन बिरह गँभीरू।।/....तिल तिल मरि जुग जुग बर गाढ़ी।।<sup>21</sup>

इस प्रकार पद्मावत सामासिक संस्कृति का सजीव दस्तावेज है। जिसमें सामासिक संस्कृति रची बसी है। पद्मावत में भारतीय समाज का लोक व्यवहार, लोकोत्सव और सांस्कृतिक वातावरण को चित्रित किया है। पद्मावत में समाज के रीति-रिवाजों, संस्कारों और परंपराओं के शब्द चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। जायसी ने नामकरण के संस्कार को कितनी काबिले तारिफ से उकेरा है। जिसमें सामासिक संस्कृति भी दिखाई देती है, क्योंकि हिन्दू धर्म में नामकरण संस्कार और मुस्लिम धर्म में छठी करने की परंपरा है। जायसी ने पद्मावत में इसका कलात्मक समन्वय किया है- भइ छठि राति छठि सुख मानी। रहस कोड सो रैनि बिहानी।।/भा बिहान पंडित सब आए। काढ़ि पुरान जनम अरथाए।।/..../कन्या रासि उदौ जग किया। पद्मावती नाऊँ जिसु दिया।।<sup>22</sup>

जायसी ने पद्मावत में उन अटूट परंपराओं और मान्यताओं को भी उठाया है जो किसी धर्म में नहीं बल्कि भारतीय समाज की आत्मा में बसते हैं। जो सभी धर्मों में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं और हमारी सामासिक संस्कृति के परिचायक हैं। ऐसी ही परंपराओं और मान्यताओं में भारतीय समाज में विवाह की परंपरा है। जिसे सभी धर्मों में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है और जन्म-जन्म का बंधन माना जाता है-अब सो मिलन कत सखी सहेलिन परा बिछोवा टूटि।/तैसी गाँठि पिय जोरब जरम न होइहि छूटि।।<sup>23</sup>

जायसी ने पद्मावत के माध्यम से समय की माँग को देखते हुए समाज में बंधुत्व की भावना स्थापित की। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पद्मावत में रची बसी सामासिक संस्कृति का शब्द चित्र है। भारतीय संस्कृति और लोक जीवन का सजीव चित्रण पद्मावत में किया गया है। जायसी की मुख्य विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी रचना-पद्मावत को भारतीय परंपरा के ढाँचे में ढाला, रचना के लिए अवधि का प्रयोग किया तथा दोहा-चौपाई का एक निश्चित क्रम अपनाया, जो अपभ्रंश

काव्यों में पहले हो चुका था। इस प्रकार जायसी ने हिन्दू-संस्कृति के बारे में उदार दृष्टिकोण रखा तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न किया। जिसकी ज़रूरत मध्यकाल से ज्यादा 21 वीं सदी में है, क्योंकि आज मानव की निरन्तर संवेदनाएँ मर रही हैं। समाज में जाति, धर्म, सम्प्रदाय का निरन्तर बोलबाला हो रहा है। इस सन्दर्भ में पद्मावत एक अनूठी रचना साबित हो सकती है जो सभी जाति, धर्म, सम्प्रदाय की दीवारें तोड़कर संसार में प्रेम का संदेश देती है।

### सन्दर्भ

1. डॉ. हेतु भारद्वाज(सं.), पंचशील शोध समीक्षा, अक्टूबर-दिसम्बर, 2012, पृ. 59
2. वही, पृ. 59
3. वही, पृ. 59
4. डॉ. हरदेव बाहरी, हिन्दी शब्दकोश, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2012, पृ. 972
5. वही, पृ. 975
6. वही, पृ. 977
7. वही, पृ. 978
8. वही, पृ. 961
9. पंचशील शोध समीक्षा, पृ. 59
10. वही, पृ. 59
11. वही, पृ. 59
12. वही, पृ. 62
13. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, (18 वाँ संस्करण), पृ. 26
14. पंचशील शोध समीक्षा, पृ. 61
15. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1997 (32 वाँ संस्करण), पृ. 56
16. विवेकानंद झा(सं.), इतिहास, जनवरी-दिसंबर, 1993, पृ. 199
17. डॉ. रामचन्द्र तिवारी, मध्ययुगीन काव्य साधना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2009, पृ. 98
18. डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पद्मावत में काव्य, संस्कृति और दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1973, प्राक्कथन से
19. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह(सं.), हिन्दी-उर्दू साझा संस्कृति, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 2010, पृ. 34
20. जायसी, पद्मावत, (मंडप गमन खण्ड), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृ. 159
21. जायसी, पद्मावत (पद्मावती वियोग खण्ड), पृ. 161
22. वही, (जन्म खण्ड), पृ. 52
23. वही, (रत्नसेन पद्मावती विवाह खण्ड), पृ. 267

हिन्दी विभाग, ए.एम.यू., अलीगढ़

## हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन में आचार्य भगीरथ मिश्र का अवदान

सुभाष चन्द्र यादव

आचार्य भगीरथ मिश्र की लेखनी इतिहास दृष्टि से भी अछूती न रह सकती। इनकी लेखनी साहित्य के हर पक्ष पर चलती हुई दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार इनका व्यक्तित्व विराट है उसी प्रकार इनका रचना कर्म भी विस्तृत है। आलोचक, समीक्षक एवं निबंधकार के रूप में अपनी प्रतिभा का लोहा मनवा चुके आचार्य मिश्र ने साहित्य इतिहास सम्बन्धी अवधारणा पर भी प्रकाश डाला है।

इनका विचार है कि- “किसी वस्तु, व्यक्ति, जाति या ज्ञान की शाखा का व्यतीत प्रामाणिक वृत्तान्त इतिहास कहलाता है। इतिहास का आग्रह जैसा था, उसी रूप में प्रस्तुत करने में है, उसके विवेचन में नहीं है। उसका कार्य, तथ्य और यथार्थ को प्रस्तुत करना है। आजकल इतिहास का स्वरूप विकास का अध्ययन करने में विशेष रूप प्रवृत्त है। इतिहास का मुख्य बल कालक्रमानुसार है”<sup>1</sup> इसी क्रम में साहित्य इतिहास संबंधी अवधारणा पर प्रकाश डालते हुए आचार्य मिश्र ने लिखा है- “साहित्य के इतिहास एक प्रयास में निर्मित नहीं होते। युगों के बीच अनवरत रूप से प्रयत्न करने वाले गवेषकों की संकलित सामग्री के आधार पर बनते हैं और फिर नया रूप ग्रहण करते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास-निर्माण में अभी तक जो इतिहास है वे अधिकांश नींव की ही सामग्री प्रस्तुत करते हैं और वह भी पूरी नहीं। हिन्दी का साहित्य बहुत अधिक विस्तृत है और ऐतिहासिक रूप में समेटने का प्रयत्न तब किया गया, जबकि दस शताब्दियों के बीच निर्माण के साथ-साथ उसका अधिकांश नष्ट, विलीन और विलुप्त भी हो गया और अब भी यदि कुछ सामग्री मिल सकती है तो इसका श्रेय जनता और जन-शासकों की, इस साहित्य की ओर अभिरुचि को ही दिया जा सकता है”<sup>2</sup>

हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की परम्परा का विभिन्न साहित्यकारों ने अपने-अपने विचारों से लेखन-विवेचन किया। हिन्दी साहित्य इतिहास-लेखन में लेखकों की एक विशाल जमात दिखाई पड़ती है। इनमें सबसे पहला नाम जो इतिहास लेखन का पहला प्रयास कहा जा सकता है, फ्रेंच विद्वान गार्सा द तॉसी का लिया जा सकता है, जिन्होंने फ्रेंच भाषा में ‘इस्तवार द ला

लितरेत्युर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी’ ग्रंथ लिखा, जिसमें हिन्दी और उर्दू के अनेक कवियों का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है। इसके बाद टॉसी की परम्परा को बढ़ाया शिवसिंह सेंगर ने, जिनका ग्रंथ ‘शिवसिंह सरोज’ है। ‘शिव सिंह सरोज’ में लगभग एकसहस्र भाषा-कवियों का जीवन चरित्र उनकी कविताओं के उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसके बाद जार्ज ग्रियर्सन का नाम बड़े आदर के साथ स्मरण किया जा सकता है, जिन्होंने ऐशियाटिक सोसायटी बंगाल की पत्रिका के विशेषांक के रूप में रचित ‘द माडर्न वर्नाक्युलर लितरेचर ऑफ हिन्दुस्तान’ नामक ग्रंथ लिखा, जो नाम से इतिहास न होते हुए भी हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है। जार्ज ग्रियर्सन के पश्चात् मिश्रबन्धुओं द्वारा ‘मिश्रबन्धुविनोद’ नामक ग्रंथ, जो चार खण्डों में विभक्त है, का प्रकाशन हुआ। मिश्र बन्धुओं ने अपने ग्रंथ को इतिहास की संज्ञा न देते हुए इस बात का पुरजोर प्रयास किया कि यह एक आदर्श इतिहास सिद्ध हो। इस ग्रंथ में मिश्रबन्धुओं ने कवियों के विवरण के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है एवं साथ ही अनेक अज्ञात कवियों को प्रकाश में लाते हुए उनके साहित्यिक महत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयास भी किया है।

हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की परम्परा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त हुआ है। अपनी पुस्तक ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’ में शुक्ल जी इतिहास सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- “जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है”<sup>3</sup>

आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने कवियों और साहित्यकारों के जीवन चरित्र



सम्बन्धी इतिवृत्त के स्थान पर उनकी रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन को प्रमुखता दी। आचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन के बाद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' ग्रंथ दिखाई देता है जिसमें विभिन्न स्वतंत्र लेखों में कुछ ऐसे तथ्यों और निष्कर्षों का प्रतिपादन किया गया है, जो हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के लिए नयी दृष्टि, नयी सामग्री और नयी व्याख्या प्रदान करते हैं। आचार्य शुक्ल अपने इतिहास लेखन में जहाँ युगीन परिस्थिति की बात करते हैं वहीं हजारी प्रसाद द्विवेदी परम्परा पर बल देते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद डॉ. राम कुमार वर्मा, धीरेन्द्र वर्मा, नलिन विलोचन शर्मा, डॉ. नगेन्द्र, परशुराम चतुर्वेदी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि विद्वानों ने भी समीक्षात्मक ग्रंथ एवं शोध प्रबन्ध लिखे हैं जो हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास को तो नहीं, किन्तु उसके किसी एक अंश, पक्ष एवं काल को नयी ऐतिहासिक दृष्टि और नयी वस्तु प्रदान करते हैं। आचार्य भगीरथ मिश्र भी शुक्ल जी के इतिहास लेखन की परम्परा से एक जगह मुझे प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। जहाँ आचार्य शुक्ल युगीन परिस्थिति की बात करते हैं वहीं आचार्य भगीरथ मिश्र युगों के बीच अनवरत रूप से प्रयत्न की बात करते हैं।

आचार्य भगीरथ मिश्र ने आचार्य शुक्ल की तरह कोई व्यवस्थित इतिहास ग्रंथ नहीं लिखा। वैसे इनके इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण विभिन्न पुस्तकों एवं लेखों में मिलते हैं। जिससे इनके ऐतिहासिक दृष्टिकोण का परिचय मिल जाता है। काव्यशास्त्री मिश्र जी के अन्दर एक प्रबुद्ध इतिहासकार बैठा है। एक सजग साहित्यिक इतिहासकार की भाँति अपनी लेखनी से कवियों को जोड़ने में बहुत प्रयत्न किया है उन्होंने जहाँ कड़ियाँ प्रायः अदृश्य छोटी जान पड़ती है वहाँ उनका इतिहास बोध काव्यशास्त्री शोध की सहायता से इतिहासकार के कार्य को और रोचकता प्रदान कर देता है। उनकी इसी ऐतिहासिक साधना को देखने से मालूम पड़ता है कि इतिहास के पुनर्लेखन में आचार्य मिश्र की आस्था थी। आचार्य भगीरथ मिश्र के इतिहास-लेखन से स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य के इतिहास में प्रचलित सभी धारणाएँ उन्हें स्वीकृत नहीं थी। उनका विश्वास था कि समीक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिए मूल्यांकन आवश्यक होना चाहिए।

भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य के इतिहास में ईश्वर के सगुण एवं निर्गुण दो आधारों पर विभाजित किया जाता है। आचार्य भगीरथ मिश्र की धारणा है कि, 'निर्गुण भक्ति' की उपासना भी निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं थी। निर्गुण भक्ति ईश्वर के लोकोत्तर या अलौकिक गुणों में विश्वास रखती थी। इसलिए इस भक्ति को अलौकिक गुणों की भक्ति कहनी

चाहिए। आचार्य मिश्र कहते हैं कि गुणों के आधार पर भक्ति का विभाजन न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। कुछ विद्वानों की धारणा है कि भक्ति युग की मूल उद्भावना या प्रेरणा मुस्लिमों के आक्रमण में है, परन्तु यह एक भ्रम नहीं है। वास्तव में मुस्लिम युग के पूर्व ही भक्ति आन्दोलन के बीज दक्षिण में पनपने लगे थे। यदि मुसलमानों का आक्रमण नहीं भी हुआ होता तो इस भक्ति साहित्य का युग अवश्य आया होता। यहाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मत का उल्लेख करना प्रासंगिक मालूम होता है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक पुस्तक में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सशक्त स्वरों में उद्घोषित किया है कि- "भक्ति आन्दोलन न तो तदयुगीन पराजित हिन्दू जाति की निराशा से उद्बलित है और न ही इस्लाम की प्रतिक्रिया है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सातवीं, आठवीं शती में जबकि भारत की धरती पर इस्लाम की छाया भी नहीं पड़ी थी, दक्षिण के वैष्णव भक्तों में भक्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान थी। इसी प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट रूप से इस्लाम के प्रभाव का खण्डन करते हुए लिखा है- "मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है"। इस प्रसंग में आचार्य भगीरथ मिश्र की धारणा भी इस प्रकार है- "यदि मुसलमान न भी आते तो भी निर्गुण भक्ति का प्रयास चालू रहता, उसका रूप चाहे जो कुछ होता।"<sup>14</sup> आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे ही भारतीय चिन्तनधारा का स्वाभाविक विकास कहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य मिश्र इतना अवश्य मानते हैं कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल के आगमन में कुछ शीघ्रता मुस्लिम आक्रमण के फलस्वरूप अवश्य हुई। "अतः हिन्दी के विकास का कारण केवल मुसलमानों का सम्पर्क नहीं। हाँ, इस प्रकार के सम्पर्क विकास को अधिक गति अवश्य दे देते हैं"<sup>15</sup> प्रेम की मधुरता लाने के लिए इस निर्गुण भक्तिधारा में निःसन्देह सूफियों का बड़ा हाथ है। आचार्य भगीरथ मिश्र की मान्यता है कि काव्य की कोटि के सम्बन्ध में "यह युग काव्य की दृष्टि से पूर्णता का युग था"<sup>16</sup> कला, अनुभूति और सौन्दर्य तथा आदर्श जीवन मूल्य सभी दृष्टियों से यह युग पूर्ण था। इस अवधारणा को बहुत से इतिहासकार एवं आलोचकों ने सहमति प्रदान की है।

आचार्य मिश्र ने स्वीकार किया है कि भक्ति साहित्य में कुछ ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो सभी युगों की चिन्तनधारा को गति दे सकते हैं। सन्तों और भक्त कवियों ने समाजवादी जीवन मूल्यों की महत्ता पर सर्वाधिक बल दिया है। आधुनिक युग में ये सामाजिक जीवन मूल्य आरोपित मालूम पड़ते हैं किन्तु भक्ति काव्य में साम्प्रदायिक सीमाओं से उठे हुए शुद्ध

मानवीय एवं सामाजिक मूल्य मिलते हैं, जो आरोपित नहीं है वरन् स्वाभाविक रूप से भक्ति साहित्य में मिलते हैं। सगुण भक्त कवियों से अधिक सामाजिक तत्त्व आचार्य मिश्र जी को निर्गुण भक्त कवियों में मिलते हैं। आचार्य मिश्र मानते हैं कि “भक्तिकाल में सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी थी”।<sup>7</sup> भक्तिकालीन साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए आधुनिक दृष्टि का होना आवश्यक जान पड़ता है इसलिए इस साहित्य को मानवीय दृष्टि से मूल्यांकन करना महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

आचार्य भगीरथ मिश्र जी का हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में एक महत्त्वपूर्ण प्रदेय ‘हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास’ नामक ग्रंथ है। इसमें इतिहास एवं शोध का विवरण मिलता है, जिसमें रीतिकाल का स्थान महत्त्वपूर्ण है, वैसे रीतिकाल से आचार्य मिश्र का लगाव चाहे संस्कार जन्य न हो, फिर भी रीतिकाल से लगाव की प्रगाढ़ता है। रीतिकाल की सारी कड़ियाँ आचार्य मिश्र की शोध सम्बन्धी मौलिकता को प्रमाणित करती हैं और रीतिकाल के सम्बन्ध में प्रचलित सभी धारणाओं का खण्डन भी करती हैं। जब रीतिकाल का साहित्य सम्बन्धी अध्ययन इतना महत्त्वपूर्ण हो गया हो तो भारतीय काव्यशास्त्र की चिन्तनधारा से इतिहासकार आचार्य मिश्र का लगाव जुड़ने लगा। इसका प्रभाव एवं अध्ययन पाश्चात्य काव्यशास्त्र परम्परा पर भी दिखाई पड़ने लगा। रीतिकाल के प्रति भी साहित्येतिहास में अनेक धारणाएँ एवं भ्रांतियाँ विद्वानों में बनी रहीं, खास करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि भी रीतिकाल के प्रति उपेक्षापूर्ण एवं उदासीन रही। यही आचार्य भगीरथ मिश्र की दृष्टि रीतिकालीन काव्यशास्त्र का गम्भीर अनुशीलन प्रस्तुत करती हुई एवं रीतिकालीन साहित्य के पुनर्मूल्यांकन में भी नये दृष्टिकोण एवं इतिहास लेखन का निखरा रूप प्रस्तुत करती है। रीतिकाल के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विरुद्ध सर्वप्रथम प्रतिक्रिया लाला भगवानदीन और पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र में दिखलाई पड़ती है। आचार्य भगीरथ मिश्र भी इसी प्रतिक्रिया में दिखलाई पड़ते हैं। आचार्य मिश्र की साहित्यिक साधना में रीतिकाल का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसी योगदान के कारण आचार्य मिश्र हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में मूलतः भक्ति और रीति साहित्य मर्मज्ञ के रूप में जाने जाते हैं। आचार्य भगीरथ मिश्र की दृष्टि रीतिकाल के प्रति उत्तनी सजग एवं भावात्मक नहीं है जितनी की भक्तिकाल के प्रति। रीतिकाल के प्रति आचार्य मिश्र की दृष्टि बौद्धिक है।

सर्वप्रथम आचार्य मिश्र को यह प्रतीत हुआ कि रीतिकाल सम्बन्धी अवधारणाएँ पूर्वाग्रहों के परिणाम हैं, क्योंकि रीतिकाल की समग्र साहित्य-साधना में इनको रखकर नहीं देखा गया।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात रीतिकाल के संदर्भ में यह है कि इसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों की बड़ी विविधता मिलती है। सम्भवतः यह वैविध्य संस्कृत साहित्य के पश्चात् इस युग में मिलता है। इस युग का मूल्यांकन करते समय हम वीर काव्य की धारा को भूल जाते हैं ‘जिसमें स्वतंत्र चेता भारतीय वीरों का राष्ट्रीय रंग के साथ गुणगान किया गया है’।<sup>8</sup> साथ ही हम भूल जाते हैं कि भक्तियुग की प्रत्येक धारा से सम्बन्धित साहित्य साधना कवियों में चलती रही है। नीति-काव्यधारा, हास्य-व्यंग्य काव्य धारा जैसी नवीन प्रवृत्तियाँ इस युग की विशेषताएँ हैं। हमको उस अनिष्ट, स्वच्छन्दतावादी धारा को भी नहीं भूलना चाहिए, जिसका प्रतिनिधित्व घनानन्द तथा नागरीदास करते हैं। इन सभी धाराओं में एक लौकिक शृंगार धारा भी रीतिकालीन दरबार में प्रवाहित हो रही थी।

आचार्य मिश्र ने इस तथ्य को बड़ी दृढ़ता के साथ प्रतिपादित किया है। इनका कथन है- “इस अधूरे वृत्त पर आधारित और अनुपयुक्त मानदण्ड के आधार पर ही रीतिकालीन साहित्य की भर्त्सना हुई थी”।<sup>9</sup>

आचार्य मिश्र जी लालित्य पर बल देते हुए कहते हैं कि आज मानदण्ड की दृष्टि से उपयोगितावाद अधिक लोकप्रिय हो गया है। अतः यदि उपयोगितावादी दृष्टि को छोड़कर लालित्य की दृष्टि से देखा जाय तो इस युग के साहित्य का महत्त्व बढ़ जाता है। “लालित्य का मूल्य भी साहित्य के क्षेत्र में सर्वथा त्याज्य नहीं है”।<sup>10</sup> रीतिकाल पर अश्लीलता का भी आरोप लगाया जाता है। इस प्रसंग में आचार्य भगीरथ मिश्र जी का कथन है- “अश्लीलता एक युग सापेक्ष शब्द है। सभी साहित्यों में किसी न किसी रूप में अश्लीलता की प्रवृत्ति मिलती है। इस दृष्टि से रीतिकाल अकेला नहीं है”।<sup>11</sup> आचार्य मिश्र कहते हैं कि ‘यदि रीतिकालीन शृंगार की परम्परा को हम सूर और विद्यापति से जोड़ सकें तो अश्लीलता सम्बन्धी धारणा तो हमें बदलनी पड़ेगी’।<sup>12</sup>

आचार्य भगीरथ मिश्र जब रीतिकाल के प्रवर्तक की तरफ बात करते हैं तो वे रीतिकाल के प्रवर्तक का श्रेय आचार्य चिन्तामणि को देते हैं।<sup>13</sup> आचार्य भगीरथ मिश्र का इतिहासकार रूप आधुनिक युग के साहित्य के प्रति सजग रहा है क्योंकि ये नये साहित्य के उत्कृष्ट आलोचक भी रहे हैं। इनकी दृष्टि में आधुनिक युग अतीत की परम्पराओं से अलग नहीं था। उन्होंने आधुनिक साहित्य की पूर्वग्रह से मुक्त नवीन एवं वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन भी किया है जिसमें इनका इतिहासकार एवं समीक्षक रूप ही अधिक उभरा है।

#### काल विभाजन एवं नामकरण

काल विभाजन एवं नामकरण साहित्येतिहास लेखन की

महत्त्वपूर्ण समस्याएँ है। हमारी दृष्टि में काल विभाजन साहित्यिक प्रवृत्तियों और रीति आदर्शों की समानता के आधार पर होना चाहिए तथा युगों का नामकरण यथासम्भव मूल साहित्य चेतना को आधार मानकर साहित्यिक के अनुसार करना चाहिए, किन्तु जहाँ ऐसा नहीं हो सकता वहाँ राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जा सकता है या कभी-कभी आधार न होने पर कालवाचक नाम को भी आधार बनाया जा सकता है। युगों का सीमांकन मूल प्रवृत्तियों के प्रारम्भ एवं अवसान के अनुसार होना चाहिए। जहाँ तक हिन्दी साहित्येतिहास में काल विभाजन एवं नामकरण की समस्या का प्रश्न उठता है उन सबमें या सर्व प्रचलित नामकरण एवं काल विभाजन आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया ही सर्वमान्य है। इसी को आधार बनाकर परवर्ती विद्वानों ने अलग-अलग ढंगों से हिन्दी साहित्येतिहास का काल विभाजन एवं नामकरण थोड़े हेर-फेर के साथ किया है। “हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में काल विभाजन के लिए प्रायः चार पद्धतियों का अवलम्ब लिया गया है। पहली पद्धति के अनुसार सम्पूर्ण इतिहास का विभाजन चार युगों अथवा काल खण्डों में किया गया है- 1. आदिकाल, 2. भक्तिकाल, 3. रीतिकाल, 4. आधुनिक काल। आचार्य शुक्ल द्वारा और उनके अनुसरण पर नागरी प्रचारिणी सभा के इतिहास में, इसी को ग्रहण किया गया है। दूसरे क्रम के अनुसार, केवल तीन युगों की कल्पना ही विवेक सम्मत है : 1. आदिकाल, 2. मध्य काल, 3. आधुनिक काल। भारतीय हिन्दी परिषद के इतिहास में इसे ही स्वीकार किया गया है”<sup>14</sup>

इसी धारणा के अनुकूल आचार्य भगीरथ मिश्र ने आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल को तीन कालों में उद्भव काल, विकास काल एवं विस्तार काल के नाम से काल विभाजन किया है।

हिन्दी साहित्येतिहास के काल-विभाजन एवं नामकरण के सम्बन्ध में आचार्य भगीरथ मिश्र की इतिहास विषयक अपनी मान्यताएँ हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में काल विभाजन के कई आधार एवं प्रकार हैं, कभी काल विभाजन का आधार विभिन्न प्रवृत्तियों को बनाया जाता है तो कभी साहित्य की विविध धाराओं को तथा साथ ही साथ कभी-कभी व्यक्तित्व के आधार पर भी काल विभाजन करते हुए दिखाया जाता है। “आचार्य मिश्र जी ने इन काल विभाजनों को अस्वीकार करते हुए इन्हें अवैज्ञानिक बताया है”<sup>15</sup> आचार्य मिश्र का अभिमत इसके पीछे यह है कि- सर्वप्रथम, प्रथम प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण करने से गौण प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व नाम में नहीं रहता और दूसरी बात यह है कि कोई विशिष्ट प्रवृत्ति किसी तथा कथित युग सीमा में बँधी नहीं रहती। इसकी कुछ पूर्ववर्ती

कड़ियाँ भी रहती हैं और कुछ परवर्ती सूत्र भी रहते हैं।

आचार्य मिश्र का मानना है कि प्रवृत्ति के आधार पर काल विभाजन अपने में पूर्ण नहीं हो पाता। आचार्य मिश्र ने हिन्दी साहित्येतिहास में काल विभाजन में विकास क्रम के आधार पर युगों के नाम सुझाये हैं। जैसे-

आदिकाल को	-	उद्भव काल
मध्य काल को	-	विकास काल
आधुनिक काल को	-	विस्तार काल।

के रूप में विभाजित करते हुए बताया कि इसमें साहित्य चेतन विविध रूपों में फैली हुई है। इन तीनों युगों के आधार पर इनका उपविभाजन भी आचार्य मिश्र ने किया है। उन्होंने उद्भव काल को दो भागों में विभाजित किया है। साधना युग और वीरगाथा युग।

विकास काल का विभाजन करते हुए उसे भी दो भागों में विभक्त किया। प्रथम भाग को भक्ति युग के नाम से एवं दूसरे भाग को रीति-शृंगार युग के नाम से। इसी प्रकार विस्तार काल का विभाजन करते समय इसे तीनों भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग को राष्ट्रीयता युग एवं द्वितीय भाग को स्वच्छन्दतावादी युग (छायावाद) एवं तृतीय भाग को यथार्थवादी युग (प्रगति एवं प्रयोग) कहा है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आचार्य मिश्र का काल विभाजन इस प्रकार है-

साधना युग (1000-1250 ई.)

1. उद्भव काल - वीरगाथा युग (1250-1400 ई.)

भक्ति युग

2. विकास काल - रीति शृंगार युग

राष्ट्रीयता युग

3. विस्तार काल - स्वच्छन्दतावादी युग (छायावाद)

यथार्थवादी युग (प्रगति एवं प्रयोग)

हिन्दी साहित्य में रीतिकाल सर्वाधिक विवादित काल है। इस काल का नाम सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया, क्योंकि इसकी मूल प्रवृत्ति रीति थी। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे शृंगार काल कहा, क्योंकि मूल में इन्होंने शृंगार रस की अवधारणा का उल्लेख किया। कई विद्वानों ने इसे अपने ढंग से विभिन्न नामों का सुझाव दिया जैसे- कला काल, अलंकृत काल आदि।

रीतिकाल के नामकरण के विवाद से आचार्य मिश्र भी कैसे अछूते रह सकते थे। इन्होंने इसके लिए एक मिला-जुला नाम ‘रीति शृंगार युग’<sup>16</sup> का नाम सुझाया एवं दूसरा नाम ‘उक्ति चमत्कार काल’<sup>17</sup> भी दिया, क्योंकि रीतिकाल का साहित्य उक्ति चमत्कार को ही लेकर रच गया था, ऐसी मिश्र

जी की मान्यता थी। एक स्थान पर आचार्य मिश्र इसे 'कला प्रधान युग'<sup>18</sup> भी कहते दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल का विभाजन भी मिश्र जी ने किया है।

आधुनिक काल को आचार्य भगीरथ मिश्र : नवचेतना काल<sup>19</sup> और समृद्धि काल<sup>20</sup> कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। सन् 1850 से अब तक विस्तृत इस काल को आचार्य भगीरथ मिश्र ने विभिन्न युगों में विभाजित कर उनके नये नाम प्रस्तावित किये हैं।

1. भारतेन्दु युग या राष्ट्रीय-चेतना युग 1857-1900
2. द्विवेदी युग समाज सुधार या राष्ट्रीय चेतना युग (आन्दोलन युग) 1900-1920
3. छायावाद युग या स्वच्छन्दतावादी युग (विद्रोह युग) 1920-1940
4. छायावादोत्तर काल- (क) प्रगति-प्रयोग काल यथार्थवादी युग (क्रांति युग) 1940-1950  
(ख) नवलेखन काल नवकाव्य युग (निर्माण या प्रयोग युग) 1950-

इस नामकरण एवं काल विभाजन में आचार्य मिश्र ने मानवीय प्रवृत्तियों को आधार बनाया है। आचार्य मिश्र ने भारतेन्दु युग को 'राष्ट्रीय-चेतना' कहा, क्योंकि इस युग के साहित्य में नई राष्ट्रीय सामाजिक चेतना के दर्शन होने हैं। आचार्य मिश्र की दृष्टि में द्विवेदी युग को 'समाज सुधार' या 'राष्ट्रीय चेतना-युग' कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि कांग्रेस की स्थापना के बाद प्राचीन भारतीय गौरव के पुनरुत्थान सम्बन्धी आन्दोलनों का जोर इस युग में देखा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में आचार्य भगीरथ मिश्र लिखते हैं- "भारतेन्दु और द्विवेदी युग भी छायावाद के पूर्व राष्ट्रीयता के युग थे। इस समय किसी भी रचना का मूल्य राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने में ही आँका जाता था। इस युग की अधिकांश रचनाओं में यही स्वर प्रधान है"<sup>21</sup>

छायावाद के संदर्भ में आचार्य मिश्र का दृष्टिकोण भी स्पष्ट है। छायावादी युग एक प्रकार से लौकिक और आध्यात्मिक रोमांस का युग है। इस युग की प्रमुख चेतना स्वच्छन्दतावादी या रोमांटिक होने के कारण आचार्य मिश्र की दृष्टि से इस युग को स्वच्छन्दतावादी युग<sup>22</sup> कहना अधिक उचित है। इस युग की उत्कृष्ट रचनाओं में अधिकतर प्रेम और रूप के प्रति स्वच्छन्द मुग्धता की प्रवृत्ति ही देखने को मिलती है। इसीलिए आचार्य मिश्र ने इसे 'सांस्कृतिक पुनरुत्थान' युग भी कहा है।

आचार्य मिश्र प्रगतिवादी या प्रयोगवादी युग को 'यथार्थवादी युग' की संज्ञा देते हैं। प्रगतिवादी युग नाम इसलिए उचित नहीं

लगता क्योंकि साफ-सुथरा एवं सच्चा साहित्य हमेशा प्रगति के स्वरो का उच्चारण करता रहा है। इसे किसी विशेष युग के साथ नहीं बाँधा जा सकता है। हाँ इस दौरान प्रगतिवादी साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया, परन्तु इससे बढ़कर इस युग के कवि ने यथार्थ का बड़ा खुला चित्रण किया और पूर्व के युग में उपस्थित अतिशय काल्पनिकता से साहित्य को इसी यथार्थ ने मुक्ति प्रदान की। हम इस युग के साहित्य में कल-कारखानों के यांत्रिक वातावरण, पीड़ितों, दलितों के मर्मस्पर्शी स्वर, दफ्तर, घर आदि का देखा और अनुभूत रूप सहज ही मिल जाता है। इसीलिए आचार्य मिश्र इसे 'यथार्थवादी युग' कहना अधिक प्रासंगिक समझते हैं।

#### सन्दर्भ-

1. नया काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 119
2. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, (प्राक्कथन) भगीरथ मिश्र
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, प्रथम संस्करण, काल विभाग
4. निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 4
5. वही, पृ. 108
6. साहित्य-साधना और समाज, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 44
7. अध्ययन, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 76
8. कला, साहित्य और समीक्षा, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 109
9. वही, पृ. 109
10. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, षष्ठ भाग, पृ. 439, सम्पादित ना.प्र.स.
11. हिन्दी रीति साहित्य, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 12
12. कला साहित्य और समीक्षा, भगीरथ मिश्र, पृ. 100
13. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 332
14. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, पृ. 41
15. कला, साहित्य और समीक्षा, भगीरथ मिश्र, पृ. 109
16. वही, पृ. 110
17. वही, पृ. 45
18. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 257
19. वही, पृ. 367
20. हिन्दी साहित्य का परिचयात्मक इतिहास, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 75
21. रीतिकाव्य नवनीत, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृ. 8
22. कला, साहित्य और समीक्षा, भगीरथ मिश्र, पृ. 112

हिन्दी विभाग, वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

---

## नारी अस्मिता की तलाश (सन्दर्भ-कोमल-गांधार)

डॉ. हर्षदकुमार चौहान

‘कोमल-गांधार’ नाटक डॉ. शंकर शेष का बहुचर्चित एवं सशक्त नाटक है। कथा का आधार महाभारतकालीन युग से ग्रहण किया है, ‘कोमल-गांधार’ की शैली शुद्ध मिथक-प्रयोग है जिसमें मानव की अंध मनोवृत्तियों पर प्रहार किया गया है साथ ही यह नारी की अस्मिता की तलाश करता है। ‘कोमल-गांधार’ का प्रयोग अवश्य ही मानवीय संवेदानाओं को स्पंदित करने में सफल हो पाया है। इसीलिए ‘कोमल-गांधार’ का नाट्य प्रयोग महाभारतकालीन कम और आधुनिककालीन अधिक लगता है। इसमें मानवीय यथार्थ का स्पष्ट चित्र झलकता है। निस्संदेह गांधारी को लेकर लिखे गए नाटकों में ‘कोमल-गांधार’ विलक्षण ही नहीं विरल नाटक है।

‘कोमल-गांधार’ आज के मानवीय संबंधों को उजागर करता है। डॉ. शेष ने जिस प्रकार अपने पूर्व नाटक ‘एक और द्रोणाचार्य’ में मिथक और आधुनिकता को एक ही साथ प्रवाहित किया था, ऐसा इस नाटक में देखने को नहीं मिलता। इस नाटक में डॉ. शेष ने पौराणिक पात्रों और उनसे जुड़ी जीवन-स्थितियों को मानवीय दृष्टिकोण से पकड़ा है। आधुनिककालीन नाटकों में ऐसी श्रेणी के कुछेक ही नाटक हैं, जो मिथकीय आवरण में समकालीन समाज और उसके भविष्य के प्रति चिंतित है। नाटक की कथा का विस्तार होता है यात्रा से। गांधार से भीष्म गांधारी को लेकर सैन्य सहित आ रहे हैं। गांधारी अपने भावी पति के सपनों में खोई होती है किंतु इस प्रकार बिना विवाह किये उस हस्तिनापुर क्यों ले जाया रहा है, इस बात से उसे गहरी चिंता है। वह बार-बार संजय से पूछती है, स्वयं अपने भाई शकुनी से भी पूछती है अपने भावी पति के बारे में। परंतु संजय इस दुरभिसंधि से भलिभाँति परिचित था इस लिए वह चिंतित है-“यात्रा रूकी नहीं कि मेरी अड़चन बढ़ी। अब वह आती ही होगी इस ओर, आते ही तानेगी सवालियों के सैंकड़ों बाण सीधे मेरी छाती पर अब हिम्मत नहीं होती उसके प्रश्नों का सामना करने की।” इस प्रकार यहाँ गांधारी और संजय दोनों की मनोव्यथा स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होती है। कोमल गांधार में नाटककार पुराण-प्रसंग के द्वारा नये मानवीय संबंधों के अन्वेषण का अभीष्ट भाव लिये हुए है। नाटक

पौराणिक है किंतु इसका प्रयोग कुछ अलग ढंग से आधुनिकता की ओर संकेत देना है। वह संकेत है-आधुनिक जीवनमूल्य की ओर। हमारा समाज उसके रचना काल से आज तक पुरुष-प्रधान ही रहा है। आज तक कितनी ही गांधारियाँ होंगी जिनका कोमल-गांधार टूट चुका है। इसी पुरुष सत्तात्मक समाज में नारी उत्पीड़न नियति, स्त्री-पुरुष संबंधों की टकराहट, मानवीय संबंधों का संक्रमण, व्यक्ति की आकांक्षा, राजनैतिक दुरभिसंधि, मानवीय अहं, घृणा और अनास्था के परिवेश में विकसित कौरवों के ‘नपुंसक अहंकार जनित चेतना’ आदि को नाटक नज़दीक से छूता है। विवाह जैसे बिलकुल वैयक्तिक और अति महत्त्वपूर्ण मसले को राजनीतिक उद्देश्यों के तहत, बिना गांधारी की राय लिये, बिना उसकी सहमती से, यही नहीं बिना उसको सूचित किये पुरुष वर्ग एक नारी (गांधारी) पर अपनी सारी इच्छाएँ लादकर उसे अंधे धृतराष्ट्र के गले में या धृतराष्ट्र को गांधारी के गले में बाँध देता है।

“भीष्म : तुम साधारण-सी बात को कुछ ज्यादा ही महत्त्व दे रहे हो। इस विवाह में न तो महत्त्व है इस लड़की का और न ही धृतराष्ट्र का....।

संजय : और इसके बाद भी विवाह....

भीष्म : कौरवों को उत्तराधिकारी नहीं चाहिए क्या? उसके लिए जरूरी है दो शरीर....और एक कर्मकाण्ड।”<sup>2</sup>

यदि इस दृश्य को आधुनिकता पर आरोपित कर देखा जाए तो आज इतने वर्षों बाद भी हमारा ग्रामीण समाज आज भी काफी पिछड़ा हुआ है, वहाँ के विवाह भी कुछ इसी प्रकार के होते हैं। डॉ. शेष ने शायद यह अनुभव आदिम जातीय विस्तारों का भ्रमण करते समय किया होगा। नाटक का नायक धृतराष्ट्र भी इस दुरभिसंधि से अनभिज्ञ होता है, वह भी बार-बार अपने अंधेपन की बात गांधारी के समक्ष उजागर की है या नहीं इस बात को पूछता रहता है। परंतु जब यह बात गांधारी को ज्ञात होती है कि उसका पति जिसके सपने वह अपने कोमल देश गांधार से हस्तिनापुर तक गूँथती आई है वह तो अंधा है तो उसे प्रतीत होता है कि उसका कोमल गांधार टूट गया। इस घृणा के कारण, तिरस्कार के प्रतीक के रूप में अपनी



आँखों पर बाँधी पट्टी भी उसे महासतीत्व की उपाधि देकर प्रतिष्ठित कर देती है, इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है!

गांधारी अपने आप को पहले ही से हाड़-मांस की एक जीती-जागती हस्ती की अपेक्षा राजवंश रक्त की नारी-देह मानी जाने के विरोध में स्वर ऊँचा करती है। उसके आदर्श तथा मनोबल इतने ऊँचे हैं कि दुर्योधन उसकी असाधारणता की ओर संकेत देते हुए कहता है-“हम लोगों ने हमेशा माना कि वह इस धरती की नहीं है। इसका आदर्श इतना ऊँचा था...आकाश जितना...हम लोग उसे कभी छू नहीं पाए।”<sup>3</sup> इस प्रकार गांधारी पात्र पूरे नाटक में असाधारणता के साथ मुखरित हुआ है। इसी असाधारणता का स्वीकार स्वयं धृतराष्ट्र भी करता है-“तुम्हारी असाधारणता ही तो मेरा बल है।”<sup>4</sup>

नाटक का अन्य एक पहलू राजनीति पर सीधा ही प्रहार करता है। जिसके हाथ में सत्ता होती है वह अपने हित में सबको दमित करता है। भीष्म जैसे पुरुषों ने मिलकर धोखे, विश्वासघात, नीचतापूर्ण षड्यंत्र तथा राजनीतिक प्रपंचनाओं से उसके आकांक्षा जगत को दाहक यथार्थ और उस पर से उठते अभिशाप जनित धुएँ के अंधेरे में धकेल दिया है। यहाँ आज की आधुनिक राजनीति के प्रति विद्रोह का स्वर भी दिखाई देता है। इस प्रकार भीष्म का पात्र कहीं-कहीं आधुनिकता को उजागर कर जाता है। घृणा और तिरस्कार से जन्मी संतानें प्रतिपक्ष की कुलवधू द्रोपदी का अपमान करती हैं तथा इसी कारण महाविनाशकारी महाभारत का युद्ध होता है। इस युद्ध को रोकने में सभी विवश है, असमर्थ है, स्वयं भीष्म भी। तिरस्कार वश अपनाया गया अंधापन ही गांधारी के सौ पुत्रों की मृत्यु के लिए जिम्मेदार है। वह अपनी मातृत्व शक्ति से अपने ही पुत्रों को नियंत्रित नहीं कर पाती, यहाँ पर आधुनिक मनुष्य की स्वार्थपरक दृष्टि को देखा जा सकता है।

नाटक में एक जगह पर गांधारी विद्रोहिणी भी दिखाई देती है। डॉ. सुरेश गौतम लिखते हैं-“फ्रीडम ऑफ चॉइस अस्तित्ववाद का मूल सिद्धांत है (Jean Paul Sarte: Existentialism and Humanism : Page. 50-51) वरण-स्वतंत्रता से व्यक्तित्व का विलगाव ‘कोमल-गांधार’ की गंधारी के अस्तित्व तेज़ धार देता है।....‘अंधायुग’ का ‘अश्वत्थामा’ वध को यदि अपने अस्तित्व का अर्थ मान बैठा है तो ‘कोमल-गांधार’ की ‘गांधारी’ वध से प्रतिहिंसक नहीं हैं।”<sup>5</sup> संजय का पात्र भी आधुनिक है, डॉ. सुरेश गौतम<sup>6</sup> ने उसको हरिशचंद्र के खोल में आधुनिक संजय की संज्ञा से अभिहित किया है। संजय के बारे में वे आगे लिखते हैं-“नाटक का आरंभ ही संजय के अंतर्संघर्ष से हुआ है। दिव्यदृष्टि प्राप्त संजय आज झूठ का बोझ नहीं ढो

पा रहा। आज का हर व्यक्ति हरिशचंद्र के खोल में तारा मसीह बना हुआ है। सत्य सामने होने पर भी वह उससे कतराता है, पलायन का मार्ग अपनाता है।”<sup>7</sup> वह सोचता रहता है कि-“सच्चाई जानने के बाद कंधे पर एक झूठ क्यों ढो रहे हैं?”<sup>8</sup>

नाटक का नायक है धृतराष्ट्र। वह अंधा होने के कारण अपाहिजता से भलि भाँति परिचित है। उसके अंदर जीने की अभिलाषा है, उसका अंधापन व्यापक रूप में समाज का असंतोष है, वह बार-बार गांधारी से अपने आप को परिचित करना चाहता है “घृणा की संतान होने के कारण”<sup>9</sup> वह घृणा के इतिहास की अगली कड़ी नहीं बनना चाहता। धृतराष्ट्र का अंधापन आज की सत्ता की लोलुपता है, अंधी इच्छाओं का प्रतीक है। धीरे-धीरे नाटक के अंत तक गांधारी भी परिस्थितियों को स्वीकार कर लेती है। अंत में जब गांधारी और धृतराष्ट्र दावानल की ओर जाने के लिए प्रवृत्त होते हैं उस दृश्य के संवादों में गांधारी के संवाद कितने समर्पित भाषा में प्रतिबिंबित होते हैं। यथा-“आप नहीं जानते, कितने पास हूँ आपके। एक तान...एक लय, जिसका अनुभव पहले कभी न हुआ, उसमें जी रही है मेरी आत्मा। चलिए, मैं ले चलती हूँ आपको उस आग में...। ....अपनी पहचान होने के बाद...फिर किस की खोज?... ..कैसा जीना?...समय हमारा बोझ उतारकर हल्का हो जाएगा। हम कड़वाहट के दो पात्र बढ़ रहे हैं दावानल की ओर...।”<sup>10</sup>

वस्तुतः ‘कोमल-गांधार’ नाटक में धृतराष्ट्र और गांधारी की मृत्यु के द्वारा अंत दिया गया है इससे नाटक दुःखांत ज़रूर हो गया है, किंतु यह मृत्यु केवल धृतराष्ट्र और गांधारी की नहीं बल्कि कड़वाहट, घृणा, अहं और प्रतिरोध की मृत्यु है। अंत में चिता धृतराष्ट्र-गांधारी की नहीं बल्कि अहं, स्वार्थ एवं प्रतिशोध की जलती है।

इस नाटक के जरिये डॉ. शेष ने युग-युग से दमित होती चली आ रही नारी जाति की परिस्थितियों को उजागर किया गया है। गांधारी तो मात्र यहाँ एक प्रतीक के रूप में आई है, दर असल नाटककार का उद्देश्य समाज की उन स्त्रियों को, उनके विद्रोह को ऊपर उठाने का है जो दमित है, शोषित है। यहाँ तक कि विवाह जैसे व्यक्तिगत मसले में भी राजनीति घुसपैठ करे यह डॉ. शेष को बिलकुल पसंद नहीं था। इस प्रकार डॉ. शेष ने महाभारतकालीन कथा का उपयोग कर मनुष्य की कुत्सित वासनाओं, पुरुष-सत्तात्मक की इच्छाओं तथा राजनीतिक षड्यंत्रों के प्रति अपना रोष प्रकट किया है।

#### संदर्भ-

1. डॉ. शंकर शेष, कोमल-गांधार, पृ. 10
2. वही, पृ. 19

शेष पृ. 66 पर.....

## डॉ. शंकर पुणताबेकर के 'बुद्धिजीवी' निबंध की भाषा-शैली

### डॉ. सचिन कदम

समकालीन हिंदी ललित निबंधकारों में डॉ. शंकर पुणताबेकर एक प्रमुख हस्ताक्षर हैं। मनुष्य बहुत बड़ा कलाकार है। उसकी कलाकारी का एक नमूना है, उसकी भाषा। वह भाषा जो उसकी जाति है, धर्म है, संस्कृति है, सभ्यता है और हैं उसकी विजय पताका। भाषा भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम है। भाषा का चमत्कार या कारीगरी दिखाना डॉ. शंकर पुणताबेकर जी का अभीष्ट नहीं था। वे तो भाषा को भावाभिव्यक्ति को साधन मानते थे। पर उनकी भाषा में सामान्यतः प्रचलित अलंकारों और बिंबों का भी यंत्र-तंत्र आश्रय लिया गया है।

डॉ. शंकर जी के 'बुद्धिजीवी' निबंध की भाषा अत्यंत समृद्ध और समर्थ है। वे प्रायः तत्सम् शब्दों की प्रधानता वाली भाषा का प्रयोग करते हैं। लेकिन प्रसंग के अनुरूप विदेशी भाषाओं के शब्दों को भी वे मुक्त भाव से प्रयोग करते हैं। डॉ. शंकर जी का शब्द चयन बहुरंगी है। उनके शब्द मुख्यतः सामान्य बोलचाल की भाषा से आते हैं। इस भाषा में प्रचलित तत्सम्, तद्भव और देशज शब्द के अलावा विदेशी भाषाओं के प्रचलित शब्द घुल-मिल गए हैं।

डॉ. शंकर के 'बुद्धिजीवी' निबंध में तत्सम् शब्दों का प्रयोग मुक्त रूप से किया है। गंभीर विवेचन और विश्लेषण करते हुए निबंधकार की भाषा बिल्कुल अलग दिखती है। तब इसमें वजनी तत्सम् शब्दों की प्रधानता हो जाती है—“यह उपलब्धि नहीं जानती कि बुद्धि या ज्ञान अपने आप में उपलब्धि भी है। नहीं जानती कि श्रम के साथ बुद्धि जहाँ ज्ञान है, ज्ञान के साथ बुद्धि पर विचार है, विचार के साथ बुद्धि विवेक है, विवेक के साथ बुद्धि चिंतन है।”<sup>1</sup> साथ ही बोलचाल के तत्सम् शब्द भी मिलते हैं। जैसे-निर्विकार, विकारमय, योग, आचरण, धनयोग, ज्ञानयोग, संस्कार, अभिमान आदि।

शंकर पुणताबेकर जी के 'बुद्धिजीवी' निबंध की वाक्य योजना सुगठित है। वाक्य-नियोजन पद्धति भी शब्द चयन की भाँति पूर्ण वैज्ञानिक है। वाक्यों में प्रयुक्त एक भी शब्द चाहे वह जिस भाषा या प्रकार का हो, आसानी से इधर-उधर नहीं किया जा सकता। डॉ. पुणताबेकर नाटककार भी हैं। उनके इस पक्ष

का प्रभाव उनकी भाषा में प्रयुक्त शब्दों के साथ-साथ वाक्य रचना पर भी दिखायी देता है। वे मुख्यः छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते हैं जो तार्किक रूप से क्रमबद्ध होते हैं। हल्की चुटकियाँ हो या गंभीर विवेचन पुणताबेकर की भाषा में वाक्य रचना का यह रूप अधिक नहीं बदलता। जैसे—“श्रम अपने आप में ज्ञान है, ज्ञान गंगा की गौमुखी है।”<sup>2</sup> कहीं-कहीं लंबे वाक्यों का प्रयोग हुआ है। जैसे—“हम पढ़-लिख गये, पर पढ़े-लिखे हम क्या भैंस ही नहीं चराते गोबर ही नहीं ....हाँ, विकास में भैंस को भैंस नहीं कहते-उद्योग कारखाने कहते हैं, वाणिज्य व्यापार कहते हैं।”<sup>3</sup>

डॉ. शंकर पुणताबेकर संस्कृत भाषा साहित्य के प्रकाण्ड पंडित हैं। साथ ही लोकभाषा और लोकजीवन से उनका घनिष्ठ आत्मीय संबंध रहा। इससे उनकी पांडित्यपूर्ण भाषा लालित्य और माधुर्य अनुरंजित है। भाषा में एक ओर शास्त्रीय ज्ञान और बौद्धिकता का गांभीर्य है तो दूसरी ओर युगीन विकृतियों और विषमताओं से उपजी व्यंग्यपूर्णता है। शंकर जी के अपने शब्दों में “कला साहित्य-संस्कृति भी समाज में डूबे नहीं कि बुद्धि भ्रम पैदा करने लगते हैं। वाद इनमें प्रमुख है जो मंच पर ज्यादा उछलता है। वाद भौतिक विकास के प्रदूषणों पर प्रहार ज़रूर करता है पर प्रदूषणों के कारकों की छत्रछाया में। यहाँ बुद्धि का बड़ा प्रतिष्ठित पतन देख सकता है।”<sup>4</sup>

शंकर जी के 'बुद्धिजीवी' निबंध की भाषा सरल और सहज है। जब जैसी आवश्यकता अनुभव हुई भाषा भी वैसी ही हो गयी। पुणताबेकर की भाषा का झुकाव तत्समता की ओर अधिक रहा है। पर संस्कृत के प्रकाण्ड पांडित्य के भर से भाषा बोझिल और दुरूह नहीं हो गयी है। उनकी तत्सम प्रधान भाषा विषय के अनुरूप परिवर्तन भी ग्रहण करती है। समाज राजनीति तथा आधुनिक समस्याओं का विवेचन करते समय उनकी भाषा का तेवर सर्वथा परिवर्तित हो जाता है। जैसे “वर्तमान उपलब्धि या विकास में ज्ञान या बुद्धि 'कंटेंट' नहीं स्टाइल है। स्टाइल धन की। यह उसकी टाई है, मेहराब है, शॉवर है, पुल है, एश ट्रे है, परदा है, मंच है, समाचारपत्र है आदि-आदि।”<sup>5</sup>

शेष पृ. 69 पर.....

---

## व्यंग्य के यथार्थ शिखर : हरिशंकर परसाई

डॉ. शंकर ए. राठोड

जब मैं एम. ए. अंतिम वर्ष में पढ़ रहा था, तो मुझे ग्रंथालय में एक छोटी किताब मिल थी 'विकलांग श्रद्धा की दौर' वह एक निबंध संग्रह था, मैं पढ़ता गया कि उसमें एक प्रसंग आया कि जब लंका युद्ध में लक्ष्मण के घायल हो जाता तब हनुमान संजीवनी लाने के लिये पर्वत को ही उठाकर ले आते हैं तो दिल्ली वाले उसे देखकर परेशान हो जाते हैं और जाकर पुलिसवालों को बताते हैं कि कोई बहुत बड़ा डाकू लूटकर पर्वत को ही हाथ में लेकर ऊपर से उड़ा जा रहा है। पुलिसवाले खुद परेशान हो जाते हैं कि अब उस डाकू को कैसे पकड़ा जाये? मैं बहुत हंसा दूसरे छात्र कहने लगे कि क्या हो गया है क्यों हंसने लगा हैं? मुझे उस दिन से लगा कि परसाई को पढ़ना है जब परसाई पढ़ा तो लगा कि परसाई केवल हिंदी साहित्य ही नहीं बल्कि संसार के किसी भी भाषा के साहित्य में देखा जाये तो हरिशंकर का मुकाबला कोई कर नहीं पाता।

परसाई का जन्म 22 अगस्त 1924 में मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिला के जमानी नामक गांव में हुआ, पिता झुमकलाल और माता चंपाबाई परसाई था। माँ हरिशंकर को छोटी सी आयु में छोड़कर प्लेग की शिकार हो गयी। पिता खेती करने के बाद कोयला का काम करता था। बड़ा हिम्मतवाला आदमी, साफ़ा, बड़ी मूछें, शरीरिक रूप से मस्तमौला थे। परसाई जात से ब्राह्मण थे, दो बहने और एक छोटा भाई थे। 1936 में जब परसाई ८वीं कक्षा में पढ़ते थे तो प्लेग की बीमारी लोगों का जीना मुश्किल कर डाली थी। स्वयं परसाई की माता-पिता छया को लूट ली थीं। गरीब परिवार का पालन-पोषण करना मुश्किल था, परसाई का जीवन बहुत कष्ट एवं तकलीफ़ से बीता। परसाई का संघर्षमय जीवन उन्हें अंदर से मजबूत बना डाला। परिस्थिति की चोट से परसाई मजबूत बनते रहे। जीवन का यह अनुभव परसाई को एक प्रकार की व्यंगता पनपन में सहायक सिद्ध हुई। परसाई पहले जंगल के विभाग में नौकरी करते थे, बाद में पाठशाला में अध्यापक बन गये। पिता के इलाज के लिए नौकरी छोड़कर अस्पताल चले गये। भाई और बहनों का विवाह जबलपुर में हो गया। नागपुर विश्वविद्यालय से हिंदी में एम. ए. की उपाधि पाई। परिवार का सारा बोझ साथ

में विधवा बहन की देखभाल करना, एक अविवाहित होकर भी परिवार का भार संभालना आदि घटनाओं ने हरिशंकर परिपूर्ण परसाई बना डाली थी।

एम. ए. के बाद स्वतंत्र रूप से लिखना आरंभ किया, 1956 से 'वसुधा' नामक पत्रिका का संपादन किया, परसाई लेखक बनने की विडंबनाओं और समस्याओं के बारे में कहते हैं कि-“मेरे जैसे लेखक की एक और गर्दिश है। भीतर जितना ....महसूस कर रहे है तो रात-दिन बेचैन है।”<sup>2</sup> इस प्रकार संघर्षशील जीवन बिताने वाले परसाई संसार का एक अनोखा व्यक्ति बना। हरिशंकर को पाठक केवल व्यंग्य के रूप में न देखकर उसे अगर देखा जाये तो परसाई सच्चे अर्थ में प्रसिद्ध यथार्थ व्यंग्य लेखक हैं। ऐसा नहीं कि परसाई के पहले कोई व्यंग्य लेखक नहीं हैं, बहुत है लेकिन परसाई इस दुनिया में दूसरा नहीं है। उन्होंने साहित्य के सभी विधा पर अपनी लेखनी चलाई उन सभी विधाओं में राष्ट्र में व्याप्त राजनीतिक अनाचार, अव्यवस्था, स्वार्थ, लोभी नेता, कोड़ एक विषय को महत्त्व न देकर सभी विषय पर फटकारता हुआ हास्य एवं व्यंग्य के द्वारा एक नवीन क्रांति लाने का काम परसाई ने किया है। भारतीय लोकतंत्र पर व्यंग्य की तेज़ तलवार कहानी, कविता द्वारा चलाये हैं। परसाई ने अपने सार्थक लेखन द्वारा व्यंग्य को इतना सार्थक बनाया है कि आज व्यंग्य साहित्य के सभी विधाओं में प्रचलित होता है। हरिशंकर का लेख पाठकों के दिलो-दिमाग में प्रवेश कर जाता और सोचने के लिए मजबूर कर देता है। जब देश आज़ाद हो गया, लोगों को आशा थी टूट गई कि एक प्रजातंत्र देश होगा लेकिन भ्रष्टाचार, ढोंग, पाखंड, राजनीति का मोहभंग आदि देश का दुर्भाग्य से आशा के सीधा उलटा हुआ। इस परिस्थिति से भलि भाँति परिचित थे हरिशंकर और उसके पास जो तंत्र थी उसके खिलाफ़ मोर्चा लगा दिये।

प्रेमचंद के उत्तराधिकारी के रूप में परसाई नज़र आते हैं जमाना था कि परसाई साहित्य की उपेक्षा होती थी लेकिन जब-जब उनकी पाठकों की संख्या बढ़ती गई कि आलोचक स्तंभ रह गये। परसाई का रचना संसार व्यापक है, स्वतंत्रता के बाद के समय को परसाई एक नया मोड़ दिया है। हरिशंकर ने

अपनी रचना 'सदाचार का ताबीज' को उन्होंने समाज में व्याप्त विसंगतियों को बदलने के ही लिखा है। 'टार्च बेचने वाला' में साधुओं और बाबाओं के ढोंग को उन्होंने पर्दाफाश किया है। हम सदियों से भगवान मानने वाले कृष्ण के आस्थान में रहने वाले साधुओं को ही परसाई ने रिश्ततखोर बताया है। इस प्रकार परसाई के लेखन में बहुत विशालता नज़र आती हैं; उन्होंने हमारी पीढ़ी की मानसिकता पर व्यंग्य किया है। भारत देश की आज़ादी को झूठ बताते हुए कहते हैं कि गणतंत्र के दिवस करने वाले जो आचरण ही झूठा है। वैष्णव के फ़िसलन में परसाई वैष्णव की करनी को ही झूठ बताता है। परसाई किसी अमीर या ग़रीब में भेद-भाव नहीं किया; उन्होंने अमीरों के बारे में कहते हैं कि अमीर के बच्चे पब्लिक स्कूल में पढ़ते, मध्य वर्ग के सरकारी पाठशाला में और ग़रीब के बच्चे किसी पाठशाला में नहीं पढ़ते बल्कि वे रास्ते पर खुले अंग भीख मांगते फिरते हैं। हरिशंकर के साहित्य के सभी पात्र कोई काल्पनिक न होकर सच्चे उस युगीन समाज के जागते-फिरते चित्रण है। परसाई सदा से सामाजिक जन-जीवन से जुड़े रहते थे, इसके लेखन में व्यंग्यता स्वाभाविक ढंग से आ गया है। समाज में व्याप्त आडम्बर एवं शोषण के खिलाफ उग्र एवं तीखा व्यंग्य किया है। यहां तक कि उन्होंने मार्क्सवाद का भी विरोध करते हैं। परसाई कोई मामूली रचनाकार नहीं थे, उनमें परिपक्व लेखक के सभी गुण मौजूद थे। वे एक ईमानदार लेखक होकर अपना कर्तव्य निभाया है। धार्मिक पाखंड एवं स्वार्थी नेताओं उनका प्रमुख विषय रहा है। ग़रीब एवं संघर्षशील जीवन बिताने के कारण परसाई ग़रीब एवं दलितों के प्रति अगाध आस्था रखते हैं। पूंजीवादि व्यवस्था, सामाजिक एवं विध्वंशक शक्ति, बेईमानी का जमकर विरोध किया है। परसाई अपने रचना द्वारा जयप्रकाश नारायण के गुणगान करते हैं कि वे भ्रष्टाचार एवं अंग्रेज शासन के खिलाफ़ थे, उन्होंने केवल भारत की स्थिति ही नहीं इरान, इराक, अमरीका, भूटान, पाकिस्तान आदि देशों की राजनीतिक भ्रष्टाचार का पोल खोला था। परसाई के प्रतिभा संपन्न होने के साथ-साथ वे एक सच्चे मुग्ध स्वभाव के व्यक्तित्व वाले इंसान थे। परसाई का समस्त साहित्य उस समय के परिवेश से जुड़ा है कि परिस्थितिजन्य परसाई की लेखनी द्वार अपने आप बाहर आ गया। उन्होंने जो देखा था, परखा, समझा उसे उन्होंने निडर होकर लिखना चालू किया।

हरिशंकर की रचनाओं में प्रमुख रूप से-विकलांग श्रद्धा की दौर, इस्पेक्टर मातादीन चांद पर, भोलाराम का जीव, दो नाक वाले लोग आदि प्रमुख हैं। अफ़सर की मानसिकता पर लिखा यह मातादीन रचना पुलिस वालों की मानसिकता पर प्रकाश डाला है, जो सीधा को उल्टा और उल्टा को सीधा

करना अफ़सरो के हाथ के खेल मानते हैं। भोलाराम के जीव में यह रचना आज भी प्रासंगिक लगती है, अव्यवस्था का चित्रण नारद की वीणा के संदर्भ में बखूबी प्रस्तुत है। जब साहब को रखने के लिए कुछ नहीं मिलता तो उसे वीणा में रखवा लेते हैं इसके एक संदर्भ है-“साहब ने कुटिल मुस्कान के साथ कहा, मगर वजन चाहिए, आप समझे नहीं। जैसी आप की यह सुंदर वीणा है इसका भी वजन भोलाराम के दरखास्त पर रखा जा सकते हैं। मेरी लड़की गाना-बजाना सीखती है, यह मैं उसे दे देना चात हूँ।”<sup>3</sup> यह रचना संपूर्ण रूप से नीचे से ऊपर तक होने वाले भ्रष्टाचार पर लिखा है, वे उससे बचने के लिये क्या-क्या किये जाते हैं इसका स्पष्ट उदाहरण है।

भोलपुर के जीव में परसाई ने स्वतंत्र भारत भयपूरित वातावरण का उल्लेख इस रचना में मिलते हैं। देश आज़ादी के बाद सबसे ज्यादा देश में भय है तो सांप्रदायिकता का है, एक रिटायर व्यक्ति अपनी पेंशन के लिये कितनी तकलीफ़ उठानी पड़ती है इसका यथार्थ चित्रण इसमें मिलता है। लेखक ने यह बताने की कोशिश की है कि आज ऐसे बहुत से भोलाराम रात-दिन ऑफिस के दरवाजे पर जाकर ठहरना पड़ता है कि बहुत से भोलाराम की इसमें ही मौत हो जाती है। हरिशंकर की एक और चर्चित रचना 'उद्घाटन शिलांयास रोग' में आज के नेतागीरी पर व्यंग्य किया है, आज वही समस्या देश में है कि केवल शिलांयास की होड़ लग रही है लेकिन काम कुछ न होता। इस रचना के एक संदर्भ में कहते हैं कि-“ऐसे गर्दन रखते शर्म आती है कि जिसमें एक महीनों से माला नहीं पहना है, ऐसे सोचवाले जनप्रतिनिधि से देश का क्या भला होगा?”<sup>5</sup> इस प्रकार जनप्रतिनिधि की निंदा करते हैं।

'चूहा और मैं' रचना में परसाई जी ने परसाई अपना व्यंग्य का कमाल दिखाया है। वैष्णव की फ़िसलन परसाई की अत्यंत प्रसिद्ध रचना है, आज़ादी के बाद की विसंगतियों को दर्शाया है, कि आज के जो परिवर्तन नज़र आते हैं वे आदर्श न होकर मूल्यहीन परिवर्तन हो रहे हैं-“धर्म को धंधे से जोड़ते हैं, धर्म धंधे से जुड़ जाये इसी को योग कहते हैं।”<sup>6</sup> इस प्रकार जो स्वातंत्र्योत्तर विसंगतियां हैं इस रचना द्वार किये हैं। जिस प्रकार कबीर किसी से न डरते थे, उसी प्रकार परसाई निडर व्यक्ति थे। परसाई के हर बात में आक्रोश था, प्रेमचंद के फटे जूते के रूप में और ग़रीबों की आवाज़ को चेतावनी के रूप में प्रस्तुत लगता है।

परसाई का व्यंग्य केवल दिल लुभाने वाला साहित्य न होकर तदुगीन सामाजिक हैं। सदाचार के ताबीज, अरस्तु की चिट्ठी, रिटायर भगवान की आत्मकथा आदि व्यंग्य के लिये प्रसिद्ध है। कहानी के क्षेत्र में भी परसाई अपनी व्यंग्यता को

नहीं छोड़ा, उनकी प्रथम कहानी प्रहरी में इस तथ्य को कायम रखा। 'विकलांग श्रद्धा की दौर' में उसका व्यंग्य यथार्थ रूप से सर चढ़कर बोलने लगा। सुनो भाई साधो; मैं पाखण्डी पर प्रहार किया है, कबिरा खड़ा बाज़ार में आदि स्तंभ पढ़ने के लिये कई लोग हिंदी भाषा सीखने लगे थे। परसाई ने मूल्यहीन समाज को जगाना चाहा, लोगों की सोच बदलने के लिये भरसक कोशिश की है। परसाई ने समाज व्याप्त समस्याओं को सुधारने के लिये नहीं बल्कि उन सिद्धांतों को बदलने के लिये अपना साहित्य लिखा है। 'सदाचार का ताबीज' कहानी कोई नेता या समाज को सुधार करने वाली कहानी नहीं बल्कि वह व्यवस्था पर चोट करने वाली कहानी है। परसाई ने इंदिरा गाँधी के समय की आपातकालीन परिस्थिति को अंधकार बताते हुए परसाई ने लोकतांत्रिक मूल्यों की हत्या का नारा देते हैं।

परसाई की और एक व्यंग्य रचना 'लिटरेचर ने मारे तुम्हें' में दीपावली एवं होली की पर लक्ष्मी और सरस्वती पूजा पर व्यंग्य किया है, आज संसार के बहुत से अमरीका के लोग विश्व स्तर के अमीर हैं कोई लक्ष्मी पूजा नहीं करते हैं, अगर लक्ष्मी, सरस्वती के पूजा करने से अमीर बन जाते तो भारतदेश के सभी लोग टाटा बिरला बन जाते, परसाई स्वयं कहते हैं कि मैं भी टाटा-बिरला बन जाता। परसाई ने इस रचना में लक्ष्मी एवं सरस्वती के वाहनों को लेकर और समुद्र मंथन को लेकर व्यंग्य किया है कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से प्रहार करते हैं, अतः लिटरेचर ने बहुत लोगों को मारा है।

परसाई ऐसे समय में लिखना आरंभ किया या उन्हें प्रेरणा उस स्थिति-गति से मिली की भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में अंधकार छा गया था, जिस उम्मीद के साथ देश आजाद हुआ था, प्रजातांत्रिक व्यवस्था का नारा बुलंद हुआ था, लेकिन आजादी के बाद देश के शासक वर्ग भोली-भाली जनता का जीना दुश्वार कर दिया था। राजनीति किसी भी देश का भविष्य निर्धारण करती है लेकिन भारत का राज-सत्ता के कारण सामान्य जनता का मोहभंग हो गया था, राजनीति के कारण सभी क्षेत्रों में अव्यवस्था नंगा-नाच करने लगी थी। इस अव्यवस्था ही परसाई आँखें खोली और इस व्यंग्य के द्वारा नेताओं पर वर्णबाण चलाने का काम किया है।

#### संदर्भ-

1. विकलांग श्रद्धा का दौर
2. सदाचार का ताविज
3. मातादीन चाँद पर
4. प्रेमचंद के फटे जूते
5. वैष्णव की फ़िलसन
6. चूहा और मैं

**धर्म-दीप 157 गणेश मंदिर के सामने, पूजा कॉलोनी, कुसनूर रोड, विश्वविद्यालय गुलबर्गा, कर्नाटक 485106**

#### पृ. 62 का शेष भाग.....

3. (सं.) डॉ. विनय, शंकर शेष रचनावली भाग-2 नाटक, कोमल-गांधार, पृ. 157
4. वही, पृ. 462
5. डॉ. सुरेश-वीणा गौतम, राजपथ से जनपथ, नटशिल्पी शंकर शेष, पृ. 182
6. वही, पृ. 184
7. वही, पृ. 104
8. शंकर शेष रचनावली, भाग-2, पृ. 410
9. वही, पृ. 29
10. वही, पृ. 470

**असि. प्रोफेसर, श्री भीखाभाई पटेल आर्ट्स कॉलेज, आणंद, (गुजरात)**



---

## नवजागरण एवं हिन्दी नवजागरण : अवधारणा

दुर्गेश यादव

हर समाज को अपनी गतिशीलता में इतिहास मौका देता है और ऐसा दौर आता है जब उसकी जड़ता टूटती है। लम्बे समय की पराधीनता में ठहरे और पिछड़े समाज में हलचल शुरू होती है, वह नई करवटे लेता है और विभिन्न क्षेत्रों में जागरूकता फैल जाती है। तब परिवर्तन के नए अंकुर फूटते हैं और बदलाव की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। यही परिघटना उस समाज के लिए नवजागरण है जिसे वह युग परिवर्तन के रूप में याद करता है।<sup>1</sup> भारतीय समाज और संस्कृति में जिस नवजागरण का उदय 19वीं सदी के मध्य हुआ। यह यूरोपीय देशों में (प्रायः इटली) रेनेसाँ (नवजागरण, पुनर्जागरण) के नाम से 15वीं सदी में व्यापक रूप से फैल चुका था। इसी समय यूरोपीय समाज में आधुनिकता तथा वैज्ञानिकता का आविर्भाव भी हुआ, जिससे रेनेसाँ और आधुनिकता ने एक साथ पूरे समाज में व्याप्त धार्मिक रूढ़ियों, अमानवीय कृत्यों, मानवीय प्रतिबंधों तथा वैयक्तिक परतंत्रता से मुक्त करने का कार्य किया तो वही आधुनिकता तथा वैज्ञानिकता ने नवीन ज्ञान विज्ञान के माध्यम से मनुष्य को तर्कशील और ज्ञानवान बनाकर जीवन को नयी दिशा दिया।

रेनेसाँ (नवजागरण) को परिभाषित करते हुए एडमंडस जार्ज वर्टन ने 'सिविलाइजेशन इयूरिंग दि मिडिल एज' 1948 ई. में लिखा- यह रेनेसा के द्वारा सम्भव हुआ कि मनुष्य ने अपनी शक्तियों पर भरोसा किया स्वयं पर विश्वास कायम किया, वह जीवन के आनन्द और संसार की तरफ उन्मुख हुआ। नवजागरण कालीन मनुष्य ने अतीत के गहरे लगाव और भविष्य की सम्भावित महानता में अपनी भूमिका को तीव्रता से महसूस किया।<sup>2</sup> मनुष्य यह अनुभव करने लगा कि उसके पीछे एक महत्वपूर्ण इतिहास है और अतीत के गर्भ में उसके सीखने लायक बहुत कुछ है तो ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र में पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई। 'यूरोप का यह बौद्धिक और वैज्ञानिक रूपांतरण ही 'रिवाइवल आफ लर्निंग' अथवा नवजागरण के नाम से जाना गया।<sup>3</sup> इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में इसका वर्णन कुछ इस प्रकार है- 'इसका मूलतः पुनर्जन्म से आशय है इस समय यूरोपियों में क्लासिकल मूल्यों तथा ज्ञान

को ग्रहण करने की ललक तथा साथ ही साथ रेनेसाँ में कुछ महत्वपूर्ण खोज-सामंती व्यवस्था का पतन व्यापार-वाणिज्य में वृद्धि, मानवता का जन्म आदि है।' डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं' के तीसरे संस्करण की भूमिका में लिखा है कि 'नवजागरण यह शब्द बंध नया था, धारणा पुरानी थी'<sup>4</sup> उनकी पुरानी धारणा से तात्पर्य प्रायः रेनेसाँ से ही था।

भारत में यूरोपियों के आगमन के फलस्वरूप 19वीं सदी में जिस नवोन्मेषशालिनी चेतना का उदय हुआ उसका संबंध बहुत से विद्वान उसी यूरोपीय रेनेसाँ तथा यूरोपीय इनलाइटमेंट से स्थापित करते हैं। पादरी एफ.ई.के. ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर' में लिखा- 'उन्तीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोप की संस्कृति के संपर्क के द्वारा हिन्दी साहित्य में एक नया प्रभाव आया.....इसी समय के आसपास भारत वर्ष में एक सशक्त साहित्यिक जागरण शुरू हुआ जो अब तक प्रगति पर है।'<sup>5</sup>

भारतीय नवजागरण की धारणा पर डॉ. रामविलास शर्मा ने कुछ इस विचार व्यक्त करते हुए कहा- 'एक व्यवस्था से दूसरी में संक्रमण ही नवजागरण है।'<sup>6</sup> इनके कहने का तात्पर्य यह है कि भारत में जिस नवजागरण की गूँज सुनाई पड़ी उस पर कहीं न कहीं यूरोपीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव है। इनके विपरीत नामवर सिंह ने भारतीय नवजागरण को यूरोपीय रेनेसाँ से न जोड़कर यूरोपीय इनलाइटमेंट से जोड़ा है। रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने भी इस भारतीय नवजागरण पर कुछ इस तरह विचार करते हुए कहा- 'पुनर्जागरण एक ऐसी सांस्कृतिक प्रक्रिया है जो बहुत से देशों के इतिहास में घटित होती रही है।'<sup>7</sup>

कुछ विद्वान भारतीय नवजागरण का उदय स्वतंत्रता संघर्ष के परिणामी स्वरूप को स्वीकार करते हैं लेकिन ऐसा मानना रेनेसाँ और इनलाइटमेंट के प्रति अन्याय है। स्वतंत्रता संघर्ष भारतीय नवजागरण का तीव्रगामी और आवेशी परिणाम है क्योंकि इसका व्यापक प्रभाव 1857 के स्वतंत्रता संघर्ष के बाद ही देखा गया। यह भारतीय नवजागरण कोई अपने (भारतीयों) द्वारा खड़े किए गए वादों एवं तर्कों का परिणाम न

होकर रेनेसाँ से प्रभावित अपनी अस्मिता (सभ्यता/संस्कृति) एवं अंग्रेजी/सामंती संकटों से मुक्ति के लिए भारतीय निम्न एवं मध्यम वर्गों का एक जातीय उभार है, जिसका बांग्ला, हिंदी, मराठी, तमिल, तुलुगु, कन्नड़, पंजाबी आदि अनेक स्थानीय भाषाओं से सम्बद्ध एक वृहद् भारतीय स्वरूप है। 'यह भारतीय नवजागरण केवल राष्ट्रीय अस्मिता की प्रतिक्रिया का परिणाम न होकर विभिन्न वादों का, तर्कों का, अस्मिता का, मानवता का, वैज्ञानिकता का तथा आधुनिकता का एक ऐसा संयोग है, जिनमें से किसी के अभाव में नवजागरण की सार्थकता पूर्णतया सिद्ध नहीं हो सकती है।'<sup>8</sup>

भारत में अंग्रेजों का आगमन तथा यहाँ की शासन सत्ता अपने हाथ में लेने के परिणामस्वरूप भारतीयों में अपने अतीत के विपरीत सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक रूप में व्यक्तित्व और वैयक्तिक चेतना का उभार बहुत बड़ी चीज़ थी जिसको भारतीय नवजागरण से जोड़ कर देखा गया। इस समय का व्यक्ति एवं समाज मध्यकालीन समाज में व्याप्त मुल्ला मौलवियों, धर्मगुरुओं की धार्मिक रूढ़ियों एवं अमानवीय कृत्यों तथा अतार्किक क्रिया-कलापों का भण्डाफोड़ और विरोध किया, तो वही राजनैतिक स्तर पर न्याय एवं अधिकार की माँग कर अपने अस्तित्व को खोजा और स्वातंत्र्य व्यक्तित्व के रूप में स्वयं को स्थापित करने का प्रयास किया। इसके परिणाम स्वरूप तत्कालीन समय की (भारतीय समाज की) सभी जड़ताओं के टूटने के साथ ही मनुष्य एवं समाज में मानवतावाद का उदय हुआ। इतना ही नहीं अंग्रेजों की शोषण परक नीतियों तथा सामंती अन्तर्विरोधों के बावजूद तत्कालीन समय के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक बदलाव के साथ सांस्कृतिक बदलाव भी भारतीय नवजागरण का महत्वपूर्ण बिंदु है।

इस अखिल भारतीय नवजागरण की चेतना के निर्माण में विभिन्न भाषा-भाषियों का योगदान रहा है जो विचारों एवं आधुनिकता के संबंध में साम्यता रखती हैं सबसे पहले इस चेतना का उभार बंगाल तथा महाराष्ट्र में तथा हिंदी भाषी क्षेत्रों में स्वतंत्रता संघर्ष (1857) के बाद देखा गया, जिसको बांग्ला नवजागरण, मराठी नवजागरण और हिंदी नवजागरण आदि नामों से जाना गया। 1857 से पहले रेनेसाँ से प्रभावित बांग्ला भारतीयों में राजाराम मोहन राय, दयानंद सरस्वती, केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानंद, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि अनेक समाज सुधारकों ने अपने सामाजिक संस्थाओं तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से 18वीं सदी से ही भारत में सामाजिक और राष्ट्रीय जागरण की लहर को फैलाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इसका सबसे ज्यादा प्रभाव हिंदी भाषी प्रदेशों (उत्तर भारत) में देखा गया क्योंकि स्वतंत्रता संग्राम के बाद राष्ट्रीय जागरण

में अमूल चूल परिवर्तन आया। हिंदी क्षेत्र में घटित 1857 के स्वाधीनता संग्राम ने केवल अंग्रेजी राज को देखने का नजरियाँ बदल दिया बल्कि भारत के नवजागरण को एक विशिष्ट चरित्र भी दिया। हिंदी नवजागरण में सामंती भेदभाव, धार्मिक असहिष्णुता और कूपमंडूकता-विरोधी तत्त्व कम नहीं थे। राष्ट्रीय कोण से उपनिवेशवाद की आलोचना और आधुनिक कोण से सामाजिक, धार्मिक रूढ़ियों की आलोचना उसकी दो बड़ी खूबियाँ थी।

हिंदी नवजागरण शब्द का प्रयोग डॉ. रामविलास शर्मा ने समूची हिंदी जाति के संदर्भ में किया है। इस हिंदी नवजागरण को उन्होंने 1857 के स्वतंत्रता संघर्ष के परिणामीस्वरूप भारतेंदु युग से जोड़कर देखा तो वही नामवर सिंह ने इसका संबंध महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं उनके सहयोगियों से स्वीकार किया। वीरभारत तलवार ने अपनी पुस्तक 'रस्साकसी' में इसे हिंदू नवजागरण के सापेक्ष रखकर इसकी अवधारणा पर एक नयी बहस शुरू कर दी। शंभुनाथ तथा कर्मेन्दु शिशिर ने भी इस पर विचार करते हुए इसको 1857 के बाद भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय से जोड़कर डॉ. रामविलास शर्मा का एक तरह से समर्थन किया। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' पुस्तक में 'हिंदी नवजागरण' की सीमा रेखा-1857 की क्रांति भारतेंदु युग, महावीर प्रसाद द्विवेदी युग तथा निराला के साहित्य तक खींची है। उन्होंने कहा- 'इस तरह जो नवजागरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम से आरम्भ हुआ वह भारतेंदु युग में और भी व्यापक बना उसकी साम्राज्य विरोधी सामंत विरोधी प्रवृत्तियाँ द्विवेदी युग में और पुष्ट हुई।'<sup>9</sup> इसी पुस्तक में इन्होंने हिंदी नवजागरण की छः विशेषताओं को बताकर उसकी पूरी मूल चेतना को प्रगट कर दिया। बाद के आलोचकों में शंभुनाथ तथा कर्मेन्दु शिशिर ने हिंदी नवजागरण पर विस्तृत अध्ययन कर इसका विस्तार प्रगतिवाद के कवि एवं रचनाकारों तक कर दिया।

हिंदी नवजागरण की चेतना का आरम्भ 1857 के बाद भारतेंदु के समय से ही होता है। उस समय बंगाल एवं मराठा तथा स्वतंत्रता संग्राम की नवोन्मेषशालिनी चेतना की गूँज भारतेंदु के कानों तक पड़ रही थी। हिंदी नवजागरण के प्रमुख उन्नायकों में भारतेंदु और उनके सहयोगी बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, राधाचरण गोस्वामी, प्रेमघन तथा बालमुकुंद ने सामाजिक और जीवन की विविध समस्याओं को हिन्दी भाषा का संवर्द्धन कर, उसके माध्यम से लोगों तक पहुँचाने का कार्य किया। इन सभी लेखकों ने अंग्रेजों के अत्याचारों, सामाजिक आर्थिक नीतियों, साम्प्रदायिकता की साजिश का विरोध तथा भारतवासियों में राष्ट्रप्रेम, भाषा प्रेम आदि महत्वपूर्ण विषयों को साहित्य एवं पत्रिकाओं के माध्यम

से जगाने का काम किया। 'हिन्दी नवजागरण के अधिकांश सेनानी अपनी समय के अत्यन्त सक्रिय और जागरूक पाठक थे।<sup>10</sup> भारतेन्दु और उनके सहयोगियों से जो कुछ भी बचा रहा उसे महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके सहयोगियों ने पूरा करने का कार्य किया।

हिन्दी नवजागरण ने एक तरफ हिन्दी भाषा को समृद्ध कर सभी को शिक्षित करने का कार्य किया तो दूसरी तरफ इस शिक्षा के द्वारा चेतना को ग्रहण करने का विस्तृत जनसमुदाय का समर्थन भी मिला। यही कारण है कि अन्य भाषा-भाषियों और स्थानों की तुलना में हिन्दी नवजागरण को हिन्दी प्रदेश में अधिक फैलने और समृद्ध होने का मौका मिला। हिन्दी साहित्य ने समूचे हिन्दी जाति में व्याप्त जाति व्यवस्था, दलित समस्या, स्त्री समस्या, साम्प्रदायिकता, सौहार्द की भावना, मानवता का आग्रह, राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रीय एकता, स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय, धार्मिक पाखण्डों का विरोध, सामाजिक कुरीतियों का विरोध, अंग्रेजी सत्ता एवं उनकी नीतियों का विरोध तथा आधुनिकता एवं वैज्ञानिकता का आग्रह कर समाज को इन सभी बिंदुओं पर नये सिरे से सोचने और समझने का प्रश्न खड़ा किया तथा उन्हें आधुनिक और प्रगतिशील बनाने का कार्य इस हिन्दी नवजागरण के माध्यम से हुआ।

#### संदर्भ-

1. कमेन्दु शिशिर, हिन्दी नवजागरण और जातीय गद्य परम्परा, आधार प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008, पृ. 6
2. सुधा सिंह, आधुनिक साहित्य और रामविलास शर्मा, स्वराज, प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2002, पृ. 83
3. वही, पृ. 83
4. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, भूमिका
5. आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर-1986 पृ. 19
6. रामविलास शर्मा, भारतीय नवजागरण और यूरोप, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली, 1996, पृ. 90
7. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1986, पृ. 94
8. शंभुनाथ हिन्दी नवजागरण और संस्कृति, आनंद प्रकाशन कोलकाता, प्रथम संस्करण-2004, पृ. 9
9. रामविलास शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, पृ. 14
10. हिन्दी नवजागरण और जातीय गद्य परम्परा, पृ. 14

**शोध छात्र-हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद**

#### पृ. 63 का शेष भाग.....

भाषा का प्रौढ़तम स्वरूप शंकर पुणतांबेकर के 'बुद्धिजीवी' निबंध में प्राप्त होता है। उनकी भाषा भावों को व्यक्त करने में सक्षम है। उनकी भाषा की झुकाव तत्समता की ओर अपनाया है। पर अंग्रेजी शब्दों को भी उन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक अपनाया है। जैसे-रैशनल (विवेकशील), फॉरेन एलिमेंट, प्रोफेसर, स्टाइल, मम्मी-डैडी, क्लासरूम, कैबिन, बाररूम, क्लब मिडिल, स्कूल आदि।

मुहावरों और कहावतों का प्रयोग निबंधकार ने किया है। कुछ अति प्रचलित मुहावरें 'बुद्धिजीवी' निबंध में मिलते हैं। जैसे-धज्जियाँ उड़ाना, रस (रक्त) चूसना आदि।

व्यंग्य को जीवन की श्रेष्ठ आलोचना कहा गया है। पुणतांबेकर के इस निबंध में श्रेष्ठता का चरमोत्कर्ष देखा जा सकता है। उनका निबंध हमें वर्तमान जीवन के विविध पहलुओं की विसंगतियों पर प्रहार किया है। नवें दशक के निबंधकारों में सशक्त निबंधकार और व्यंग्यकार है।

डॉ. शंकर पुणतांबेकर भावों और विचारों के प्रति सतर्क रहने वाले कलाकार हैं। रचना-शैली की अलौकिकता और कलात्मकता के कारण वे हिन्दी ललित निबंध साहित्य में विशेष स्थान के अधिकारी हैं।

#### संदर्भ-

1. डॉ. सुरेश बाबर, निबंध माला, पृ. 112
2. वही, पृ. 112
3. वही, पृ. 110
4. वही, पृ. 111
5. वही, पृ. 112

**संगमनेर महाविद्यालय, संगमनेर, जि. अहमदनगर, महाराष्ट्र**

---

## विज्ञापन और हिन्दी

डॉ. सुरेश पटेल

व्यक्ति के विचारों का आदान-प्रदान का कार्य भाषा के माध्यम से सरल होता है। व्यक्ति की अभिव्यक्ति का प्रमुख और सशक्त माध्यम भाषा है। मानव इतिहास में समय-समय पर आर्थिक, सामाजिक, राजकीय क्रांति के तहत परिवर्तन आते रहे हैं, लेकिन मानव समाज की रहन-सहन और उसके विचारों को बदलने वाली दो क्रांतियों का योगदान महत्वपूर्ण है, जिसमें प्रथम है औद्योगिक क्रांति और दूसरी संचार क्रांति। इन दोनों क्रांतियों का प्रभाव मानव समाज पर सबसे ज्यादा हुआ है।

भाषा के सहारे व्यक्ति अपने विचार भी व्यक्त करता है और दूसरों तक पहुँचाता भी है। व्यापार के संदर्भ में भी भाषा उसी प्रकार कार्य करती है-उत्पादक शब्दों से संदेश छोड़ते हैं और उपभोक्ता शब्दों के अर्थ को ग्रहण करते हैं। उत्पादक और ग्राहक के बीच वस्तु-विशेष के कार्य-कलापों के लिए सर्वप्रथम भाषा ही होती है। विज्ञापन का प्रभाव भी भाषा पर निर्भर रहता है। विज्ञापन का सृजन करते समय विज्ञापन की भाषा-शैली पर विशेष ध्यान दिया जाता है। 11वीं सदी में अखबारों और पत्रकारिता का व्यवस्थित प्रारम्भ हुआ। विज्ञापन भी तकरीबन लेखन-कार्य के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे। शब्द-चित्रों का चमत्कार विज्ञापनों में दिखने लगे। विज्ञापन से व्यापार में वृद्धि होती देखकर धीरे-धीरे सभी व्यापारों में विज्ञापन महत्वपूर्ण बन गया। मुद्रणकला के बेजान हस्ते-मुस्कुराते चित्र टी. वी. के माध्यम से उछलने-कूदने लगे, विज्ञापनों में नाच-गाने हुए, संवाद आये, शब्द-संगीत-चित्र के साथ विज्ञापन का प्रभाव बढ़ने लगा।

विज्ञापन की भाषा केवल साहित्यिक न होकर व्यवहारिक और रोचक होती है। विज्ञापनों की भाषा-शैली विशिष्ट होती है क्योंकि विज्ञापन का लक्ष्य श्रोता हैं, उपभोक्ता हैं उपभोक्ता की आयु, लिंग, आर्थिक और सामाजिक स्थिति, जीवन-स्तर और योग्यता के आधार पर भाषा का उपयोग किया जाता है। विज्ञापन में भाषा का ऐसा प्रयोग होता है जो लक्षित वर्ग के श्रोताओं को सरलता से समझ में आ जाए। भाषा-प्रभाव को उभारने के लिए विज्ञापन में वाक्यों का कई प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। शीर्षक, उपशीर्षक, स्लोगन, कथन आदि में छोटे-छोटे

और अर्थपूर्ण वाक्यों का प्रयोग अधिक किया जाता है। उपभोक्ता का ध्यान आकर्षित करने के लिए और उपभोक्ता के प्रति प्रभावशाली ढंग से अपील करने के लिए विज्ञापन की भाषा वाक्य-कौशल पर निर्भर करती है।

साधारण वाक्य, मिश्रवाक्य और संयुक्त वाक्य, तीनों प्रकार के वाक्य-प्रयोग विज्ञापन में मिलते हैं। अर्थ के आधार पर भी वाक्य प्रयोग विज्ञापन में किये जाते हैं। जैसे निश्चयार्थक वाक्य, आज्ञासूचक वाक्य, प्रश्नसूचक वाक्य, भयावह वाक्य। विज्ञापन की भाषा में संज्ञा-पदबंध, विशेषण-पदबंध, क्रियाविशेषण-पदबंध का प्रयोग अधिक मिलता है। उपभोक्ता के ध्यान को तीव्रता से आकृष्ट करने के लिए हिंदी विज्ञापनों की भाषा में पदबंधों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता है। विज्ञापनकर्ता पदबंधों की सहायता से अपनी बात कम से कम शब्दों में अधिक स्पष्ट रूप से समझा पाता है। पदबंधों का प्रयोग उपभोक्ता को अपील करने में अत्यंत सफल रहा है। पदबंध की भाषा जल्द से याद रह जाती है और उपभोक्ता को आकर्षित भी करती है। पदबंध हिंदी विज्ञापनों की एक प्रमुख विशेषता है।

टेलीविजन के विज्ञापनों के लिए काव्यगत शैली विशेषकर महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि उचित शब्दों से रचा गया काव्य संगीत के सहयोग से आसानी से लंबे समय तक याद रह जाता है। विज्ञापन द्वारा विज्ञापित वस्तु के गुणों विशेषताओं और उससे होने वाले लाभों को गीत में ढालकर गाया जाता है तथा कई विज्ञापनों में संवाद के जरिए नाटकीयता का पुट डालकर उत्पाद के विशेष गुणों को बताया जाता है।

किसी भी भाषा का सौंदर्य उचित शब्दों के समुचित प्रयोग पर निर्भर करता है। विज्ञापन की भाषा का मुख्य उद्देश्य विज्ञापन को स्मरणीय, पठनीय, आकर्षक बनाता तथा विक्रय-शक्ति और 'अपील' को प्रभावशाली बनाना होता है। हिंदी विज्ञापन की भाषा शब्द-संपदा से संपन्न है। विविध प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विविध प्रकार के शब्दों से परिपूर्ण है।

आज विदेशी शब्दों की दृष्टि से विज्ञापन की भाषा समृद्ध है। अंग्रेज़ी, अरबी-फ़ारसी, भारतीय भाषाओं के तथा

अन्य भाषाओं के शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उच्चवर्ग तथा मध्यवर्ग के लिए लिखे गए विज्ञापनों में विदेशी शब्दों का बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। आज हिंदी विज्ञापनों में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग ज्यादा हो रहा है, क्योंकि मध्यवर्गीय पाठक खिचड़ी भाषा बोलने का शौकीन है तो उच्चवर्गीय अंग्रेज़ी भाषा बोलने का आदी। अतः इन दोनों वर्गों के लिए लिखे गए विज्ञापनों में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग निस्संकोच रूप से मिलता है।

हिंदी विज्ञापनों की भाषा विशेषणों के प्रयोग की दृष्टि से संपन्न है। उपभोक्ता वस्तु को खरीदने के लिए उपभोक्ता को प्रभावित करने में ये विशेष सहायक सिद्ध होते हैं यह शब्द वस्तु की विशेषता बताने वाले शब्द होते हैं। गुणवाचक विशेषणों का प्रयोग विज्ञापनों में अधिक होते हैं।

**काल (समय) बताने वाले विशेषण**-नया, ताज़ा, आधुनिक, आधुनिकतम, अद्यतन, टिकाऊ आदि।

**रंग तथा आकार बताने वाले विशेषण**-सुनहरी, चमकीला, चमकदार, रंगीला, उजला, उज्वल, सफेद, सुंदर, सौम्य, खूबसूरत, बेजोड़, मध्य, महान, मजबूत, बेमिसाल, हल्का, आलीशान, साधारण आदि।

**दशा बताने वाले विशेषण**-अनूठा, अनोखा, उत्तेजक, कुरकुरे, कुदरती, चटपटा, ज़ायकेदार, मशहूर, घना, स्वादिष्ट, विशिष्ट, शानदार, सनसनीखेज, सस्ता, सजीला, चिकना आदि।

**गुण बताने वाले विशेषण**-अपूर्व, आदर्श, उत्तम, अद्भुत, अच्छा, आकर्षक, किफायती, निर्दोष, बढ़िया, मोहक, सुकोमल, लाजवाब, मधुर आदि।

**अन्य गुणवाचक विशेषण**-आरामदेह, मनपसंद, मनमोहक, मनभावन, मोहक, चित्ताकर्षक, नयनभिराम, लुभावना, सुरुचिसंपन्न, लोकप्रिय, सर्वप्रिय, दिलकश, रोमांटिक, अविश्वसनीय, विश्वसनीय।

इसके अतिरिक्त कई प्रकार के विशेषणों का प्रयोग विज्ञापनों में होते हैं।

इस तरह विज्ञापन में वस्तुओं के नाम के साथ अन्य अनेक संज्ञा शब्द विज्ञापन की भाषा में मिलते हैं।

**सौंदर्य-प्रसाधन, वस्त्र, कपड़ों और बॉडी-स्त्रे, इत्र, स्त्रे आदि के विज्ञापनों में आने वाले संज्ञा शब्द**-अहसास, अवसर, अंदाज़, आकर्षण, आनंद, आत्मविश्वास, उत्कृष्टता, उपलब्धि, उत्सव, कोमलता, करिश्मा, खूशबू, गरिमा, गौरावन, चमत्कार, चमक, तत्त्व, त्वचा, ताज़गी, प्यार, प्रकृति, नमूने, प्रदर्शन, पसंद, पोशाक, बहार, राज, रुचि, रोमांच, रंगरूप, लोकप्रियता, विविधता, शिकन, शुद्धता, शान, सुंदरता, सुगंध आदि।

-रक्षात्मक वस्तुओं तथा औषधि के विज्ञापनों में आने वाले संज्ञा शब्द-असर, आराम, इलाज़, खतरा, चमत्कार, चुस्ती, छुटकारा, छिड़काव, तकलीफ, थकान, प्रतिकार, फुर्ती, बल, मजबूरी, राहत, रोकथाम, शोध, शक्ति, सड़न, स्वास्थ्य, समस्या, सलाह, सुबूत, क्षमता, बढ़ोत्तरी आदि।

**खाद्य सामग्री, (कोल्ड ड्रिंक्स) पीने की चीज़ों में आने वाले संज्ञा शब्द**-उत्साह, उमंग, जायका, तंदुस्ती, ताकत, ताज़गी, पसंद, खिद्मत, परिवर्तन, मज़ा, मिठास, शुद्धता, शौक, शौकीन, स्वाद, सुगंध, हाज़मा, ज़रूरत, तत्त्व आदि।

**बिजली के सामान तथा फर्नीचर के विज्ञापनों में प्रयुक्त संज्ञा शब्द**-अनुभव, आकर्षक, उपलब्धि, उपहार, उत्तमता, कीमत, किफायत, बचत, मज़ा, मुफ्त, भेंट, विकास, वैभव, सामर्थ्य, शोभा आदि।

**रोजमर्रा उपयोग आने वाली वस्तुओं के विज्ञापन में प्रयुक्त संज्ञा शब्द**-कमाल, किफायत, खरीद, गुणवत्ता, चमक, चमकार, तकलीफ, नियंत्रण, पसंद, बचत, भरोसा, मरम्मत, शक्ति, सुरक्षा, सुविधा, सफेदी आदि।

इस प्रकार से हिंदी विज्ञापन की भाषा के लिए शब्द-संपदा की दृष्टि से समृद्ध है। विज्ञापन की भाषा के सभी गुणों को वहन करने में हिंदी सक्षम और प्रभावशाली है।

विज्ञापन में भाषा का कार्य वस्तु के बहुआयामी पक्ष को उभारता, प्रभावशाली अपील करना तथा विज्ञापन की बनावट को सघन रूप से प्रदान करना है। विज्ञापनों में आकर्षक, लुभावनी, लच्छेदार तथा बहुआयामी भाषा का प्रयोग होता है।

विज्ञापन के प्रिंट माध्यमों में लिखित भाषा का प्रयोग होता है और आकाशवाणी, दूरदर्शन, सिनेमा आदि में वाचिक तथा लिखित दोनों भाषाओं का प्रयोग होता है। आज विज्ञापन में हिंदी भाषा का विशिष्ट अंदाज़ है, विशिष्ट शैलियाँ हैं। उपभोक्तावाद ने विज्ञापनों की भाषा-शैली पर गहरा प्रभाव डाला है। सीधी-सरल-सहज भाषा-शैली की जगह लाक्षणिक, चमत्कारों से युक्त व्यंजनात्मक शैली का प्रयोग आज प्रचलन में है। भाषा को भावपूर्ण बनाने के लिए लोकगीतों और लोकोक्तियों की पंक्तियों को विज्ञापन में सम्मिलित किया जाता है। विज्ञापन निर्माण में विज्ञापन की भाषा को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कई बार भाषा के पारंपरिक प्रवाह को मोड़कर, व्याकरण के प्रतिमानित ढाँचे को तोड़कर और दूसरी भाषाओं के शब्दों को मिलाकर विज्ञापन तैयार किए जाते हैं। इस तरह हिंदी में समय व परिस्थिति के अनुरूप अपने आप में परिवर्तन लाने की क्षमता है। विज्ञापन में प्रयुक्त होने वाली हिंदी को लोग जल्दी से याद भी रह जाते हैं। इसका अधिकतर प्रयोग विज्ञापन को अधिक संप्रेषणक्षम बना सकता है। अतः भाषा और विज्ञापन



दोनों एक दूसरे के विकास में पूरक योगदान दे रहे हैं।

हिंदी के लिए जनसंचार में समाचार पत्र, रेडियो, दूरदर्शन, फिल्म, मोबाइल, कंप्यूटर, आज बड़े महत्त्व के हो गये हैं। आधुनिक संचार के माध्यम दूर-दूर के संदेशों को क्षण भर में प्रस्तुत कर देते हैं। भारत में दूरदर्शन का अविष्कार से हिंदी अधिक लोकप्रिय हो गई है। भारतीय भाषाओं और उनके अंतःसंबंध पर विचार करें तो जनसंचार माध्यमों में हिंदी का प्रयोग ही विशेष रूप से होता है। जनसंचार और भाषा के अंतःसंबंध के बारे में कह सकते हैं कि अब हिंदी केवल संस्कृतनिष्ठ हिंदी ही नहीं है, न तो पश्चिमी हिंदी है, न डिंगल-पिंगल वाली और ना ही मैथिली, ब्रज या अवधी लेकिन आज हिंदी भारतीय भाषाओं और विदेशी भाषाओं के शब्दों से भी संबंधित है। भाषा शाब्दिक, व्याकरणिक, ध्वनि प्रक्रियात्मक व्यवस्थाओं एवं संरचनाओं का मात्र लेखा-जोखा नहीं है, बल्कि इससे अधिक वह ऐसा व्यवहार है, जीवन की अभिव्यक्ति का आधार है।

भारत में हिंदी राष्ट्रभाषा, राजभाषा, बोलचाल की भाषा के रूप में जन-जन तक मौजूद है। विज्ञापन की हिंदी भाषा को वैज्ञानिक हिंदी नाम से भी जाना जा सकता है क्योंकि विज्ञापन की हिंदी में सभी भाषाओं का समन्वय होता है। बोलचाल की भाषा, मानक हिंदी के प्रयोग, प्रादेशिक, आंचलिक और अंग्रेज़ी भाषाएँ भी इसमें आसानी से घुल-मिल जाती हैं। विज्ञापन की भाषा को आम आदमी की भाषा के निकट की भाषा माना जा सकता है। इस आम दर्शक वर्ग में सिर्फ हिंदी भाषी दर्शक वर्ग नहीं है, अपितु विभिन्न भाषा-भाषी वर्ग भी समाहित हैं जो हिंदी को आदर्श के रूप में देखते हैं।

हिंदी भारत की नहीं, पूरे विश्व में एक विशाल क्षेत्र की भाषा है। यह विशाल क्षेत्र अधिकतर मध्यम वर्ग को अपने में समेटे है। इस मध्यम वर्ग की क्रय-शक्ति पिछले कुछ वर्षों में बहुत बढ़ी है। खाड़ी देशों का मजदूर वर्ग जो भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश आदि देशों से आता है सबसे अधिक सहजता हिंदी बोलने में समझता है। वह यहाँ सादा जीवन जीता है लेकिन अपनी आमदनी का एक बड़ा हिस्सा अंतर्राष्ट्रीय उत्पादों की खरीद में व्यय करता है। आज अपने माल के प्रचार-प्रसार, पैकिंग, गुणवत्ता आदि के लिए हिंदी को अपना बहुराष्ट्रीय कंपनियों की विवशता है और उनकी यही विवशता हिंदी की शक्ति एवं सामर्थ्य की द्योतक है। भारतीयों ने अपनी कड़ी मेहनत, प्रतिभा और कुशग्र बुद्धि से आज विश्व के तमाम देशों के उन्नति में जो सहायता की है उससे प्रभावित होकर समझ गए हैं कि भारतीयों से अच्छे संबंध बनाने के लिए हिंदी सीखना कितना ज़रूरी है।

आज हिंदी कंप्यूटर के क्षेत्र में अंग्रेज़ी का वर्चस्व तोड़

डाला है और हिंदीभाषी करोड़ों की आबादी कंप्यूटर का प्रयोग अपनी भाषा में कर सकती हैं। आवश्यकता इस बात की है, कि हिंदी के प्राध्यापक, साहित्यकार, संपादक एवं प्रकाशक कंप्यूटर पर हिंदी का प्रयोग करें और इसके सर्वांगीण विकास के लिए कदम बढ़ाएँ, प्रवासी भारतीयों में हजारों लोग हिंदी के विकास में संलग्न हैं जिसमें से तीन सौ से अधिक से आप बेब पर संपर्क स्थापित कर सकते हैं।

भारत में उदारीकरण, वैश्वीकरण तथा औद्योगीकरण की प्रक्रिया तीव्र हुई। इसके परिणामस्वरूप अनेक विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भारत में आई और शुरू-शुरू में अंग्रेज़ी विज्ञापनों से उत्पादकों को विज्ञापित किया तो उसमें असफलता महसूस हुई तो विवश होकर हिंदी की ओर मुड़ना पड़ा, क्योंकि इन्हें अपने उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ानी थी, अपना व्यापार, अपना लाभ बढ़ाना था। आज अपने माल के प्रचार-प्रसार, पैकिंग, गुणवत्ता आदि के लिए हिंदी को अपना बहुराष्ट्रीय कंपनियों की विवशता है और उनकी यही विवशता हिंदी की शक्ति एवं सामर्थ्य द्योतक है।

आज भूमंडलीय समय में मुक्त बाज़ार व्यवस्था के चलते विज्ञापन की माँग व उसकी ज़रूरत बढ़ी है। विज्ञापन-एजेंसियाँ राष्ट्रीय प्रसार के साथ-साथ विश्व फलक पर विज्ञापन की दुनिया को फैला रही हैं। इस तरह संचार क्रांति के कारण विज्ञापन के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। आज विज्ञापन केवल व्यावसायिक दृष्टि से ही अपनी कारगर भूमिका नहीं निभा रहे, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का भी प्रभावकारी माध्यम सिद्ध हो रहे हैं।

ऐतिहासिक तौर पर देखें तो यह सारा मामला शारीरिक और मानसिक विकास का है। विशेष रूप से तो यही कहा जा सकता है कि जब तक मनुष्य की ज़रूरतों का अंत नहीं आता तब तक विज्ञापनों का अंत भी नहीं होगा। विज्ञापन की संभानाएँ मनुष्य के साथ चलती रहेंगी। मनुष्य अपनी ज़रूरतों को पूर्ण करने के लिए नए-नए आयाम खोजता रहेगा, विज्ञापन भी उस आयामों के साथ घुल-मिल जाएगा। इस तरह नए-नए अविष्कारों के साथ विज्ञापन अपना भाषाई रूप बदल कर बिना रुके मनुष्य के संग-संग चलते रहेंगे।

#### सहायक ग्रंथ-उ

1. हिंदी विज्ञापनों की भाषा, ले. आशा पाण्डेय, प्र.सं. 1995, ब्लेकी एण्ड संस पब्लिशर्स प्रा.लि., दिल्ली से उद्धृत, पृ. 13( कामता प्रसाद गुरु, हिन्दी व्याकरण, पृ. 430)
2. <http://hi.wikipedia.org> 3. <http://kosh.khsindia.org/hindi> 4. <http://yadavarchu.blogspot.in>

सरदार पटेल यूनिवर्सिटी, वल्लभ विधानगर, गुजरात

---